

श्रमण ŚRAMAṆA

जुलाई-सितम्बर २००४



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
PĀRŚWANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI

श्रमणा

ŚRAMAṆA

जुलाई-सितम्बर २००४



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

PĀRŚWANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष ५६

अंक ७-९

जुलाई-सितम्बर २००४

प्रधान सम्पादक
प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक
डॉ० शिवप्रसाद

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
आई.टी.आई. मार्ग, करौंदी
पो.ऑ. - बी.एच.यू.,
वाराणसी-२२१००५ (उ.प्र.)
e-mail : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
दूरभाष : ०५४२-२५७५५२१

ISSN-0972-1002

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु. १५०.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु. १००.००
इस अंक का मूल्य	:	रु. २५.००

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु. १०००.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु. ५००.००

नोट : सदस्यता शुल्क का चेक या ड्राफ्ट केवल पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नाम से ही भेजें।

सम्पादकीय

श्रमण जुलाई-सितम्बर २००४ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। पूर्व की भांति इस अंक में भी जैन दर्शन, साहित्य, आचार एवं इतिहास से सम्बद्ध आलेखों को स्थान दिया गया है। हमारा प्रयास यही रहता है कि श्रमण का प्रत्येक अंक पिछले अंकों की तुलना में हर दृष्टि से बेहतर हो और उसमें प्रकाशित हो रहे सभी आलेख शुद्ध रूप में मुद्रित हों।

इस अंक के साथ भी हम अपने सम्माननीय पाठकों को जैन कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान रखने वाली प्राकृत भाषा में रचित कृति **सुरसुंदरीचरिअं** के द्वितीय परिच्छेद का एक अंश भेंट कर रहे हैं जो मुनिश्री विश्रुतयशविजयजी म०सा० द्वारा की गयी संस्कृत छाया, गुजराती अर्थ और हिन्दी अनुवाद से युक्त है। यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ हमें पूज्य आचार्य विजय राजयशसूरिजी म०सा० के सौजन्य से प्राप्त हुआ है जिसके लिये हम उनके आभारी हैं।

सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे अपने अमूल्य विचारों/ आलोचनाओं से हमें अवगत कराने की कृपा करें ताकि आगामी अंकों में उसे सुधारा जा सके।

सम्पादक

श्रमण

जुलाई-सितम्बर २००४

सम्पादकीय
विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१. बौद्ध और जैन प्रमाण मीमांसा : एक तुलनात्मक अध्ययन - प्रो० सागरमल जैन १-१६
२. कर्म साहित्य में तीर्थंकर - डॉ० धर्मचन्द्र जैन १७-२५
३. आवश्यक सूत्र का स्रोत एवं वैशिष्ट्य - श्री अनिल कुमार सोनकर २६-३६
४. प्राकृत साहित्य का कथात्मक महत्त्व - डॉ० हुकमचन्द्र जैन ३७-४२
५. संवेगरंगशाला में प्रतिपादित भरण के सत्रह प्रकार - साध्वी प्रियदिव्यांजनाश्री ४३-४८
६. जैन आगमों में संगीत विज्ञान - साध्वी डॉ० मंजुश्री ४९-५६
७. भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित गृहस्थों की आचार संहिता - श्री महेन्द्र कुमार 'मस्त' ५७
८. नेमिदूतम् का अलंकार लावण्य - डॉ० विनोद कुमार शर्मा एवं आशा शर्मा ५८-८१
९. खरतरगच्छ - सागरचन्द्रसूरिशाखा का इतिहास - शिवप्रसाद ८२-९१

ENGLISH SECTION

10. Jainism as Perceived by Huen - Tsang- Dr. A.P. Singh 92-98
११. विद्यापीठ के प्रांगण में - ९९-१००
१२. जैन जगत् १०१-१०२
१३. साहित्य सत्कार १०३-१०५
- सुरसुंदरीचरित्रं १-१७



बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा - एक तुलनात्मक अध्ययन

प्रो० सागरमल जैन*

जैन एवं बौद्ध प्रमाणशास्त्र का ऐतिहासिक विकासक्रम :-

जैन और बौद्ध दर्शन भारतीय श्रमण संस्कृति के दर्शन हैं। आचारशास्त्र के सिद्धान्त पक्ष की अपेक्षा से दोनों में बहुत कुछ समानताएं हैं। किन्तु जहाँ तक तत्त्वमीमांसीय और प्रमाणशास्त्रीय विवेचनों का प्रश्न है, दोनों में कुछ समानताएँ और कुछ अंतर परिलक्षित होते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन एकांतवाद के विरोधी हैं। दोनों के दार्शनिक विवेचन के मूल में विभज्यवादी दृष्टिकोण समाहित है। तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा के क्षेत्र में बौद्ध दर्शन जहाँ एकांतवाद का निषेध करके मध्यम-प्रतिपदा की बात करता है, वहीं जैन दर्शन एकांतवाद का निषेध कर अनेकांतवाद की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दोनों दर्शनों की मूलभूत दृष्टि अर्थात् एकांतवाद के निषेध में समानता है। किन्तु अपनी दार्शनिक विवेचनाओं के अग्रिम चरणों में दोनों दर्शनों की मान्यताओं में अंतर देखा जाता है। उसका कारण यह है कि जहाँ एकांतवाद से बचने के लिए बौद्धदर्शन निषेधपरक रहा, वहाँ जैन दर्शन ने विधिमुख से अपनी बात कही। जैन दर्शन का चरम विकास उसके अनेकांतवाद और स्याद्वाद के सिद्धांत के रूप में हुआ, वहीं बौद्ध दर्शन का चरम विकास अपनी मध्यमप्रतिपदा पर आधारित होते हुए भी अंततः विज्ञानवाद और शून्यवाद के रूप में हुआ।

जहाँ तक जैन और बौद्ध प्रमाणशास्त्र का प्रश्न है, प्राचीन जैन आगमसाहित्य और बौद्ध त्रिपिटक में हमें प्रमाणशास्त्र संबंधी विशेष विवेचनाएं उपलब्ध नहीं होती हैं। परवर्ती जैन आगमों समवायांग, अनुयोगद्वारसूत्र और नन्दीसूत्र में ज्ञानमीमांसा की तो विस्तृत चर्चा है, किंतु प्रमाणशास्त्र संबंधी चर्चा का उनमें भी कुछ शब्द संकेतों के अतिरिक्त प्रायः अभाव ही है। इस प्रकार पालि त्रिपिटक और अर्द्धमागधी आगमों में प्रमाणशास्त्र संबंधी छुटपुट शब्दों यथा तक्क, विमंसी, पमाण, हेतु व्यवसाय आदि के प्रयोग तो मिल जाते हैं, किंतु एक सुव्यवस्थित प्रमाणशास्त्र की उपलब्धि नहीं होती है। बौद्ध परम्परा में सर्वप्रथम नागार्जुन ने लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी में शून्यवाद की स्थापना के साथ विग्रहव्यावर्तनी और वैदल्यसूत्र में प्रमाणों का स्पष्ट

* मंत्री, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी एवं नियामक, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर, मध्यप्रदेश

रूप से खण्डन किया है। बौद्ध परम्परा में प्रमाणशास्त्र के विकास का मुख्य श्रेय विज्ञानवादी योगाचार दर्शन को जाता है। बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग (चौथी-पाँचवी शती) को बौद्ध प्रमाणशास्त्र का प्रथम प्रस्तोता माना जा सकता है।

मल्लवादी (चौथी-पाँचवी शती) आदि प्राचीन जैन आचार्यों ने बौद्ध प्रमाणमीमांसा के खण्डन में पूर्वपक्ष के रूप में दिङ्नाग के ग्रंथों को ही आधार बनाया है। मल्लवादी की कृति **द्वादशारनयचक्र** में दिङ्नाग की अवधारणाओं को उद्धृत करके उनकी समीक्षा की गई है।

दिङ्नाग के गुरु बौद्ध विज्ञानवादी असंग के लघुभ्राता वसुबन्ध रहे हैं। यद्यपि वसुबन्धु के ग्रंथों में भी न्यायशास्त्र संबंधी कुछ विवेचन उपलब्ध होते हैं, फिर भी प्रमाणशास्त्र की विवेचना की दृष्टि से दिङ्नाग का **प्रमाणसमुच्चय** ही बौद्ध परम्परा का प्रथम स्वतंत्र और महत्वपूर्ण ग्रंथ है। परवर्ती जैन और जैनेतर दार्शनिकों ने बौद्ध प्रमाणमीमांसा के खण्डन में इसे ही आधार बनाया है। दिङ्नाग के पश्चात् बौद्ध न्याय के प्रस्तोताओं में धर्मकीर्ति प्रमुख माने जाते हैं। धर्मकीर्ति के सत्ताकाल को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद हैं, फिर भी इतना सुनिश्चित है कि वे ईसा की सातवीं शताब्दी के बौद्ध विद्वान् हैं। जैन विद्वान् पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने उनका काल ६२० ईस्वी से ६९० ईस्वी माना है, जो समुचित ही प्रतीत होता है। यद्यपि धर्मकीर्ति के पश्चात् भी धर्मोत्तर, अर्चट, शांतरक्षित, कमलशील, देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, प्रज्ञाकरगुप्त, रविगुप्त, कर्नकगौमी आदि अनेक बौद्ध आचार्य हुए हैं, जिन्होंने बौद्ध प्रमाणमीमांसा पर ग्रन्थ लिखे हैं, किंतु प्रस्तुत विवेचना में हम अपने को धर्मकीर्ति तक ही सीमित रखने का प्रयत्न करेंगे। क्योंकि अकलंक (आठवीं शती) आदि जैन आचार्यों ने दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति की स्थापनाओं को ही अपने खण्डन का विषय बनाया है।

जहाँ तक जैन प्रमाणशास्त्र का प्रश्न है, उसका प्रारम्भ सिद्धसेन दिवाकर के **न्यायावतार** से होता है। सिद्धसेनदिवाकर को लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी का विद्वान् माना जाता है। उनका **न्यायावतार** जैन प्रमाणशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। इसमें प्रमाण की परिभाषा के साथ-साथ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) प्रमाणों का उल्लेख हुआ है, यद्यपि इस ग्रंथ की मूल कारिकाओं में बौद्ध प्रमाणशास्त्र के खण्डन का स्पष्ट रूप से कोई निर्देश नहीं है। फिर भी “स्वपराभासिज्ञानं प्रमाणम्” कहकर प्रमाण को मात्र स्वप्रकाशक मानने वाली बौद्ध परम्परा के खण्डन का संकेत अवश्य मिलता है, किन्तु बौद्ध प्रमाणशास्त्र की स्पष्ट समीक्षा का इस ग्रंथ में प्रायः अभाव ही है। इस ग्रन्थ के अवलोकन से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर बौद्ध प्रमाणशास्त्र से परिचित अवश्य थे, क्योंकि इस ग्रन्थ में कहीं बौद्धमत से समरूपता और कहीं विरोध परिलक्षित होता है। यद्यपि जैन परम्परा में सिद्धसेन के पूर्व उमास्वाति (तीसरी शती) ने **तत्त्वार्थसूत्र** में ज्ञान के आगमिक पाँच प्रकारों का उल्लेख करके

अगले सूत्र में उन्हें प्रमाण के रूप में उल्लेखित किया है, साथ ही प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों का भी उल्लेख किया है फिर भी उमास्वाति को जैन न्याय के आद्यप्रणेता के रूप में स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि उनके **तत्त्वार्थसूत्र** और उसके **स्वोपज्ञभाष्य** में इन दो सूत्रों के अतिरिक्त प्रमाण संबंधी कोई विशेष चर्चा उपलब्ध नहीं है। उनके पश्चात् सिद्धसेन दिवाकर ने यद्यपि जैन प्रमाणव्यवस्था के संबंध में एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना तो की, किंतु उन्होंने प्रमाणमीमांसा संबंधी बौद्ध एवं अन्य दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया। जैन परम्परा में बौद्ध प्रमाणमीमांसा की समीक्षा यदि सर्वप्रथम किसी ने की है, तो वे **द्वादशारनयचक्र** के प्रणेता मल्लवादी (लगभग पाँचवी शती) हैं। मल्लवादी ने दिङ्नाग के **प्रमाणसमुच्चय** से अनेक संदर्भों को उद्धृत करके उनकी समीक्षा की है। मल्लवादी दिङ्नाग से परवर्ती और धर्मकीर्ति से पूर्ववर्ती हैं। बौद्ध विद्वानों ने दिङ्नाग का काल ईसा की पाँचवी शती माना है। किन्तु **द्वादशारनयचक्र** की प्रशस्ति से मल्लवादी का काल विक्रम सं० ४१४ तदनुसार ई० सन् ३५७ माना है। इस दृष्टि से दिङ्नाग को भी ईसा की चौथी शती के उत्तरार्द्ध से पाँचवी शती के पूर्वार्द्ध का मानना होगा।

जैन परम्परा, बौद्ध प्रमाणशास्त्र से यदि परिचित हुई है तो वह प्रथमतः दिङ्नाग और फिर धर्मकीर्ति से ही विशेष रूप से परिचित प्रतीत होती है, क्योंकि जैन आचार्यों ने बौद्ध प्रमाण शास्त्र की समीक्षा में इन्हीं के ग्रन्थों को मुख्य आधार बनाया है, यद्यपि धर्मोत्तर, अर्चट, शान्तरक्षित और कमलशील के भी संदर्भ जैन ग्रंथों में मिलते हैं। तिब्बती परम्परा के अनुसार दिङ्नाग के **प्रमाणसमुच्चय** के अतिरिक्त प्रमाणशास्त्र पर उनकी जो दूसरी प्रमुख कृति है, वह **न्यायप्रवेश** है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने उसके कर्ता दिङ्नाग के शिष्य शंकरस्वामी को माना है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में **न्यायप्रवेश** ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिस पर जैन आचार्यों ने टीकाएं रचीं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने (लगभग आठवीं शताब्दी में) दिङ्नाग के **न्यायप्रवेश** पर वृत्ति लिखी, जो उपलब्ध है। आगे चलकर हरिभद्र की इस **न्यायप्रवेशवृत्ति** पर पार्श्वदेवगणि ने पंजिका की रचना की। यद्यपि ये दोनों टीका ग्रंथ जैन परम्परा के आचार्यों की रचनायें हैं, किंतु ये समीक्षात्मक न होकर विवेचनात्मक ही हैं। समीक्षा की दृष्टि से दिङ्नाग के **प्रमाणसमुच्चय** के पश्चात् जैन आचार्यों ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक को ही अधिक उद्धृत किया है। ज्ञातव्य है कि **प्रमाणवार्तिक** दिङ्नाग के **प्रमाणसमुच्चय** की ही टीका है। फिर भी जैन आचार्यों ने अपनी बौद्ध प्रमाणशास्त्र की समीक्षा में इसको ही प्रमुख आधार बनाया है। धर्मकीर्ति के दूसरे दो ग्रंथ जो जैन आचार्यों की समीक्षा के विषय रहे हैं वे हैं **प्रमाणविनिश्चय** और **संबंधपरीक्षा**। **प्रमाणविनिश्चय** वस्तुतः उनके **प्रमाणवार्तिक** का ही संक्षिप्त रूप है और इसके आधे से अधिक श्लोक **प्रमाणवार्तिक** से ही ग्रहण किए गए हैं। धर्मकीर्ति की दूसरी कृति **संबंधपरीक्षा**

वर्तमान में अनुपलब्ध है। किन्तु इसका कुछ अंश, जो आज सुरक्षित है उसका श्रेय जैनाचार्यों को ही है। दिग्म्बर जैनाचार्य प्रभाचन्द्र के **प्रमेयकमलमार्तंड** (१०वीं शती) में न केवल इसकी बाईस कारिकायें उपलब्ध हैं, अपितु उन्होंने उन पर व्याख्या भी की है। इसी प्रकार श्वेताम्बर विद्वान् बृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि (११वीं शती) ने भी **स्याद्वादरत्नाकर** में इसकी कुछ कारिकाएं उद्धृत की हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ जैन ग्रन्थ **द्वादशारनयचक्र** की मूलकारिकाओं की पुनर्रचना का आधार धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की तिब्बती स्रोत रहे हैं, वही धर्मकीर्ति की **संबंधपरीक्षा** के कुछ अंशों के संरक्षण का आधार प्रभाचन्द्र का **प्रमेयकमलमार्तंड** है। जैन परम्परा में बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जो समीक्षा उपलब्ध होती है, उसमें सिद्धसेन के **न्यायावतार** और मल्लवादी के **द्वादशारनयचक्र** के बाद उसके टीकाकार सिंहसूरि का क्रम आता है। किन्तु सिंहसूरि की **द्वादशारनयचक्र** पर लिखी गई टीका में भी बौद्ध परंपरा का जो खण्डन हुआ है, वह वसुबंधु और दिङ्नाग के दार्शनिक मंतव्यों को ही पूर्वपक्ष के रूप में रखकर किया गया है। उन्होंने बौद्धों के प्रमाणलक्षण एवं उनकी प्रत्यक्ष प्रमाण की अवधारणा की विभिन्न दृष्टिकोणों से समीक्षा की, किन्तु सिंहसूरि ने कहीं भी धर्मकीर्ति को उद्धृत नहीं किया है। उन्होंने मुख्यतया वसुबन्धु और दिङ्नाग के मंतव्यों को ही अपनी समीक्षा का विषय बनाया, इससे यह सिद्ध होता है कि सिंहसूरि वसुबंधु एवं दिङ्नाग के परवर्ती किन्तु धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती रहे हैं। इनका काल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध या सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। जैन प्रमाणशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से सिद्धसेन और मल्लवादी के पश्चात् इन्हीं का क्रम आता है, क्योंकि ये मल्लवादी के **द्वादशारनयचक्र** के टीकाकार भी हैं।

पाँचवीं-छठी शताब्दी पश्चात् से जैन आचार्यों ने बौद्ध तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा की समीक्षा की, इस क्रम में यहाँ हम प्रमुख रूप से उन्हीं आचार्यों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने न केवल जैन प्रमाणशास्त्र के विकास में अपना अवदान दिया है अपितु प्रमाणशास्त्रीय बौद्ध मंतव्यों की समीक्षा भी की है अथवा उनके प्रमाणशास्त्रीय मंतव्यों की समीक्षा बौद्ध आचार्यों ने की। सिद्धसेन, मल्लवादी और सिंहसूरि के पश्चात् आचार्य सुमति (लगभग ७वीं शती) हुए हैं, ये जैनधर्म को यापनीय परम्परा के आचार्य रहे हैं। दुर्भाग्य से आज उनकी कोई भी कृति उपलब्ध नहीं होती है, किन्तु बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित (आठवीं शती) ने अपने ग्रंथ **तत्त्वसंग्रह** में सुमति के नामोल्लेखपूर्वक उनके प्रमाणशास्त्रीय मंतव्यों की समीक्षा की है। ज्ञातव्य है कि आचार्य सुमति ने श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन के **सन्मतितर्क** पर एक विवृति भी रची थी जो आज अनुपलब्ध है, इससे लगता है कि आचार्य सुमति उस उदार यापनीय परम्परा के आचार्य रहे हैं, जो आज लुप्त हो चुकी है। इसीकाल के अर्थात् सातवीं-आठवीं शती के अन्य जैन नैयायिक पात्रकेसरी हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना **त्रिलक्षणकदर्थन** है। इसमें बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु का

विस्तार से खण्डन किया गया है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित ने अपने **तत्त्वसंग्रह** (१३६) में इनके ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत किया है, वहीं अकलंक आदि जैन दार्शनिकों ने भी पात्रकेसरी के **त्रिलक्षणकदर्थन** के श्लोकों को उद्धृत करके बौद्धों के त्रिरूपहेतु का खण्डन किया है। लगभग इसी काल में श्वेताम्बर जैन परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि (आठवीं शती) हुए हैं। हरिभद्रसूरि ने **शास्त्रवार्तासमुच्चय** और **षट्दर्शनसमुच्चय** जैसे ग्रन्थों में बौद्ध परम्परा के मंतव्यों का निर्देश किया है। किन्तु वे एक समन्वयवादी आचार्य रहे हैं। अतः उन्होंने अन्य दर्शनों के खण्डन की अपेक्षा उनकी दार्शनिक अवधारणाओं की जैन दर्शन के साथ संगति कैसे संभव है, यही दिखाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बौद्धप्रमाणमीमांसा की समीक्षा नहीं की, किंतु जैसा हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, उन्होंने दिङ्नाग के **न्यायप्रवेश** की टीका अवश्य रची है।

जैन प्रमाणशास्त्र के व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ बौद्ध प्रमाणशास्त्र की तार्किक समीक्षा करने वाले आचार्यों में भट्ट अकलंक (ईस्वी ७२० से ७८०) का स्थान प्रथम है। उन्होंने **तत्त्वार्थवार्तिक** के अतिरिक्त **लघीयस्त्रय**, **न्यायविनिश्चय**, **सिद्धिविनिश्चय**, **प्रमाणसंग्रह** आदि अनेक ग्रंथ रचे हैं, जिनमें जहाँ एक ओर जैन प्रमाणमीमांसा का सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण है, वहीं दूसरी ओर अन्य दर्शनों के साथ-साथ बौद्ध प्रमाणमीमांसा के प्रमाणलक्षण, निर्विकल्पप्रत्यक्ष, अपोहवाद, शब्दार्थ-संबंध, हेतु की त्रिरूपता आदि का खण्डन तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा एवं तर्क के प्रामाण्य का स्थापन तथा उनको प्रमाण न मानने संबंधी बौद्धों के तर्कों का निरसन किया गया है। अकलंक के पश्चात् विद्यानन्द (९वीं शती) के **श्लोकवार्तिक**, **प्रमाणपरीक्षा** आदि ग्रन्थों में भी प्रमाण संबंधी बौद्ध मंतव्यों की स्पष्ट समीक्षा की गई है। जहाँ अकलंक के ग्रंथों में बौद्ध मंतव्यों की समीक्षा हेतु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के ग्रंथ ही आधार रहे हैं, वहाँ विद्यानन्द ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अतिरिक्त प्रज्ञाकरगुप्त के मंतव्यों का भी युक्तिसंगत खण्डन किया है। विद्यानन्द के पश्चात् जैन प्रमाणशास्त्र के एक प्रमुख आचार्य अनन्तवीर्य हुए हैं, इनका काल दसवीं शती है। इन्होंने अकलंक के दो ग्रंथों **सिद्धिविनिश्चय** और **प्रमाणसंग्रह** पर व्याख्या लिखी है। इनमें दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के अतिरिक्त धर्मोत्तर, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शांतरक्षित और कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिकों को न केवल उद्धृत किया गया है, अपितु उनके मंतव्यों की समीक्षा भी की गई है। अनन्तवीर्य के पश्चात् जैन न्याय के क्षेत्र में **तत्त्वबोधविधायनी** नामक **सम्मतितर्क** की टीका के कर्ता अभयदेवसूरि (११वीं शती), **प्रमेयकमलमार्तण्ड** और **न्यायकुमुदचन्द्र** के रचनाकार प्रभाचन्द्र (११वीं शती), **प्रमाणनयतत्त्वालोक** और उसकी स्वोपज्ञ टीका **स्याद्वादरत्नाकर** के कर्ता वादीदेवसूरि (१२वीं शती) तथा उसी ग्रन्थ की **रत्नाकरावतारिका** नामक टीका के रचनाकार आचार्य रत्नप्रभ और **प्रमाणमीमांसा** के कर्ता आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती) आदि जैनप्रमाणशास्त्र के

प्रबुद्ध आचार्य हुए हैं। इन सभी ने दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शांतरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध आचार्यों और उनके ग्रन्थों का न केवल उल्लेख किया है अपितु उनके ग्रन्थों से उनके मंतव्यों को उद्धृत कर उनकी समीक्षा भी की है। इनके पश्चात् भी जैन न्याय की यह परम्परा यशोविजय, विमलदास आदि के काल तक अर्थात् लगभग १८वीं शती तक चलती रही और जैन आचार्य बौद्ध मन्तव्यों को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर उनकी समीक्षा करते रहे। यही नहीं, बीसवीं शती में भी पं० सुखलालजी, पं० दलसुख भाई, डॉ० नथमलजी टाटिया, मुनि जम्बूविजयजी आदि जैन विद्वान् बौद्ध प्रमाणशास्त्र के ज्ञाता रहे हैं। मुनि जम्बूविजयजी ने तो तिब्बती सीखकर **द्वादशारनयचक्र** जैसे प्राचीन त्रुटितग्रंथ का पुनः संरक्षण किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ५वीं शती से लेकर २०वीं शती तक अनेक जैन आचार्य बौद्ध प्रमाणशास्त्र के ज्ञाता और समीक्षक रहे हैं, किन्तु बौद्ध न्याय का विकास भारत में लगभग ११वीं-१२वीं शती के बाद अवरुद्ध हो गया।

प्रमाणलक्षण :-

बौद्धदर्शन में प्रमाणलक्षण के निरूपण के संबंध में तीन दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं- सर्वप्रथम दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थ **प्रमाणसमुच्चय** में स्मृति, इच्छा, द्वेष आदि को पूर्व अधिगत विषय का ज्ञान कराने वाला होने से प्रमाण का विषय नहीं माना है इसी आधार पर दिङ्नाग के टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने **प्रमाणसमुच्चय** की टीका में प्रमाण को अज्ञात अर्थ का ज्ञापक कहा है। उनके पश्चात् आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाण की परिभाषा देते हुए “प्रमाण” अविसंवादीज्ञानम् कहकर प्रमाण को अविसंवादी ज्ञान कहा है। यद्यपि उन्होंने प्रमाण की यह स्वतंत्र परिभाषा दी है, किन्तु उन्होंने “अज्ञातार्थप्रकाशकोवा” कहकर दिङ्नाग की प्रमाण की पूर्व परिभाषा को भी स्वीकार किया है। बौद्ध परम्परा में प्रमाणलक्षण के संबंध में तीसरा दृष्टिकोण ‘अर्थसारूप्यस्य प्रमाणम्’ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमारा विवेचन धर्मकीर्ति तक सीमित है। अतः हम प्रथम एवं द्वितीय प्रमाणलक्षण की ही जैन दृष्टि से समीक्षा करेंगे, क्योंकि ये दोनों लक्षण धर्मकीर्ति को भी मान्य हैं। उनके द्वारा तृतीय लक्षण वस्तुतः प्रमाणफल के रूप में विवेचित है। धर्मकीर्ति का कथन है कि ज्ञान का अर्थ के साथ जो सारूप या सादृश्य है वही प्रमाण है। जहाँ तक अनाधिगत या अज्ञात अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण मानने का प्रश्न है, मीमांसक और बौद्ध दोनों ही इस संबंध में एकमत प्रतीत होते हैं। जैन आचार्यों में अकलंक (८वीं शती), माणिक्यनदी आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भी प्रमाण को अपूर्व अर्थ का ज्ञापक माना था, किन्तु कालांतर में जैन दार्शनिकों को प्रमाण के इस लक्षण को स्वीकार करने में तार्किक असंगति प्रतीत हुई, क्योंकि स्वयं अकलंक ने स्मृति और प्रत्यभिज्ञान को परोक्ष प्रमाण के भेद के रूप में स्वीकार किया है और ये दोनों ही अधिगत ज्ञान हैं, अपूर्व ज्ञान नहीं, इसलिए आगे चलकर विद्यानन्द ने

श्लोकवार्तिक में, वादीदेवसूरि ने **स्याद्वादरत्नाकर** में तथा हेमचन्द्र ने **प्रमाणमीमांसा** में प्रमाणलक्षण निरूपण में उसे अपूर्व अर्थ का ग्राहक होना आवश्यक नहीं माना। मात्र यही नहीं, इन आचार्यों ने अपनी कृतियों में इसकी विस्तृत समीक्षा भी की है। **प्रमाणमीमांसा** में स्पष्ट रूप से यह कहा है कि ग्रहीष्यमानज्ञान की भाँति ग्रहीताग्राही ज्ञान भी प्रमाण है (१/१/४)।

जहाँ तक धर्मकीर्ति के द्वारा अविस्वादी ज्ञान को ही प्रमाण लक्षण स्वीकार करने का प्रश्न है जैन दार्शनिकों का इससे सांख्यवहारिक स्तर पर कोई विशेष विरोध नहीं रहा है, क्योंकि अकलंक आदि ने तो इसे प्रमाणलक्षण के रूप में स्वीकार किया भी है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में धर्मकीर्ति का यह प्रमाणलक्षण ही सर्वाधिक मान्य रहा है। यहाँ ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति ने अविस्वादिता का तात्पर्य, अर्थ और ज्ञान में सारूप्य या अभ्रान्तता न मानकर अर्थक्रियास्थिति को स्वीकार किया। **प्रमाणवार्तिक** (१/३) में वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि “अर्थक्रिया की स्थिति ही अविस्वादिता” है। पुनः अर्थक्रिया की स्थिति का भी अर्थप्रापण की योग्यता के रूप में प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध परम्परा में धर्मकीर्ति के टीकाकार धर्मोत्तर ने इसकी विस्तृत विवेचना भी की है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाण लक्षण की विवेचना में जैन दृष्टिकोण को न तो पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और न ही उसकी समीक्षा की है। जबकि जैन दार्शनिकों ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों की ही प्रमाण संबंधी अवधारणा को अपनी समीक्षा का विषय बनाया है। यद्यपि यहाँ यह ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती जैन दार्शनिकों में सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी ने प्रमाणलक्षण की चर्चा में दिङ्नाग की मान्यताओं की समीक्षा की है। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर स्पष्ट नामोल्लेखपूर्वक दिङ्नाग के प्रमाणलक्षण की समीक्षा नहीं करते हैं। अपने प्रमाणलक्षण की चर्चा में उन्होंने उसे स्व और पर का आभासक तथा बाधविवर्जित ज्ञान कहा है (प्रमाणस्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्, **न्यायावतार** १)।

सिद्धसेन द्वारा प्रतिपादित इस प्रमाणलक्षण में नैयायिकों के समान ज्ञान के कारण (हेतुओं) को प्रमाण न कहकर ज्ञान को ही प्रमाण कहा गया है। ज्ञान को ही प्रमाण मानने के संबंध में जैन और बौद्ध दार्शनिकों में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है।

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है कि सिद्धसेन दिवाकर स्पष्ट रूप से तो अपने ग्रंथ में बौद्धों का नाम लेकर उनका खण्डन नहीं करते हैं, किन्तु प्रमाणलक्षण की उनकी यह परिभाषा एक ओर ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धविज्ञानवाद (योगाचार) का, दूसरी ओर बाह्यार्थवादी मीमांसकों और नैयायिकों की ऐकांतिक मान्यताओं का खण्डन कर उनमें समन्वय करती है। ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धविज्ञानवाद अर्थात् योगाचारदर्शन बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है, इसलिए उनके अनुसार प्रमाण (ज्ञान) स्वप्रकाशक है।

दूसरे शब्दों में ज्ञान अपने को ही जानता है। जैन दार्शनिकों में सिद्धसेन के पश्चात् अकलंक, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि सभी अपने प्रमाण संबंधी ग्रन्थों में बाह्यार्थ का निषेध करने वाले या यह मानने वाले कि ज्ञान केवल स्व प्रकाशक है, विज्ञानवादी बौद्धों का विस्तार से खण्डन करते हैं। उनकी समीक्षा का सार यह है कि ज्ञान से भिन्न ज्ञेय रूप बाह्यार्थ का अभाव मानने पर स्वयं ज्ञान के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। क्योंकि ज्ञान ज्ञेय के अभाव में संभव नहीं है, इसके विरोध में बौद्धों का उत्तर यह है कि स्वप्न आदि में अर्थ के अभाव में ज्ञान होता है। किन्तु उनका यह कथन सार्थक नहीं है। प्रथम तो यह कि सभी ज्ञान अर्थ के बिना होते हैं यह मानना युक्तिसंगत नहीं है, दूसरे यह कि स्वप्न में जिन वस्तुओं का अनुभव होता है, वे उसके पूर्व यथार्थ रूप से अनुभूत होती है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सिद्धसेन दिवाकर ने अपने प्रमाणलक्षण की चर्चा में उसे अपूर्व अर्थ का ग्राहक अथवा अनधिगतज्ञान नहीं माना है।

जहाँ तक धर्मकीर्ति द्वारा प्रमाण को अविस्वादादक मानने का प्रश्न है जैन परंपरा में सिद्धसेन दिवाकर ने भी **न्यायावतार** में प्रमाण को बाधविवर्जित कहा है। यद्यपि बाधविवर्जित और अविस्वादादी में आंशिक समानता और आंशिक अन्तर है, इसकी चर्चा आगे की गई है। जैन दर्शन में अकलंक एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने **अष्टसहस्री** में प्रमाणलक्षण का निरूपण करते हुए प्रमाण को अविस्वादादी एवं अनधिगत अर्थ का ज्ञान माना है (प्रमाणमविस्वादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् अष्टशती, **अष्टसहस्री**, पृ० १७५)। यहाँ हम देखते हैं कि अकलंक ने बौद्ध दार्शनिकों में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों के प्रमाणलक्षण को समन्वित कर अपना प्रमाणलक्षण बनाया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्वयं धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणलक्षण में अविस्वादिता के साथ-साथ अनधिगतता को स्वीकार किया था। इस प्रकार प्रमाणलक्षण के निरूपण में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति और जैनाचार्य अकलंक दोनों का मन्तव्य समान है। यही कारण है कि कुछ विद्वान् स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि अकलंक ने जो प्रमाणलक्षण निरूपित किया है, वह बौद्धों से और विशेष रूप से धर्मकीर्ति से प्रभावित है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अकलंक (८वीं शती) और धर्मकीर्ति (७वीं शती) में लगभग एक शती का अंतर है। अतः उनके चिन्तन पर धर्मकीर्ति का प्रभाव परिलक्षित होना अस्वाभाविक नहीं है किन्तु आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि जैनन्याय के प्रमुख विद्वान् अकलंक जहाँ एक ओर **तत्त्वार्थवार्तिक** में प्रमाण को अनाधिगत ज्ञान मानने का खण्डन करते हैं, वहीं **अष्टशती** में वे उसका समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। इस संदर्भ में जैन और बौद्ध न्याय के युवा विद्वान् डॉ० धर्मचन्द्र जैन का यह कथन युक्ति संगत है कि क्षणिकवादी एवं प्रमाणविप्लववादी बौद्धों की तत्त्वमीमांसा व प्रमाणमीमांसा में अनाधिगत अर्थ के ग्राहक ज्ञान का प्रमाण होना उपयुक्त हो सकता है, किन्तु नित्यानित्यवादी एवं प्रमाणसंप्लववादी जैन दार्शनिकों के मत में नहीं (**बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा**, पृ० ७९)।

जैनन्याय में अनाधिगत अर्थात् अगृहीत-ग्राही ज्ञान या अपूर्वज्ञान को प्रमाणलक्षण में सर्वप्रथम स्थान अकलंक ने ही दिया था, उसके पश्चात् माणिक्यनंदी आदि अनेक दिगम्बर जैन दार्शनिक प्रमाणलक्षण में अपूर्व या अनाधिगत शब्द का प्रयोग करते रहे हैं, किन्तु अकलंक के निकटपरवर्ती विद्यानन्द (लगभग ९वीं शती) ने **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** में स्पष्ट रूप से अपूर्व या अनाधिगत विशेषण को प्रमाणलक्षण में व्यर्थ माना है (**तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** १/१०/७७)। उनके पश्चात् प्रभाचन्द्र (दसवीं शती) ने अपूर्व या अनाधिगत अर्थ के ग्राही ज्ञान को प्रमाणलक्षण निरूपण में एकांतरूप से अव्यर्थ तो नहीं कहा, लेकिन इतना अवश्य कहा है कि प्रमाण कथंचित् ही अपूर्व अर्थ का ग्राही होता है, किन्तु सर्वथा अपूर्व का ग्राही नहीं होता।

जहाँ तक धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविस्वादक लक्षण का प्रश्न है, यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर ने बाधविवर्जित कहकर किसी अर्थ में उसे स्वीकार किया है, किन्तु बाधविवर्जित एवं अविस्वादकता दोनों एक नहीं हैं। बाधविवर्जित होने का अर्थ है स्वतः एवं अन्य किसी प्रमाण का विरोधी या अविस्वादी नहीं होना है, जबकि अविस्वादिता का सामान्य अर्थ है ज्ञान और ज्ञेय में सारूप्य या संगति। जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि जैन दार्शनिक अकलंक ने धर्मकीर्ति के इस अविस्वादकता नामक प्रमाण लक्षण को स्वीकार किया है। उनके परवर्ती माणिक्यनन्दी आदि अन्य दिगम्बर जैन आचार्यों ने भी उसका समर्थन किया, किन्तु दिगम्बर विद्वान् विद्यानन्द तथा श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धर्षि (९वीं शती) ने प्रमाण के अविस्वादिता नामक लक्षण का खण्डन किया है। विद्यानन्द का कहना है कि बौद्धों ने स्वसंवेदना, इन्द्रिय, मानस एवं योगज ऐसे चार प्रकार के प्रत्यक्ष माने हैं, किन्तु बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के अनुसार ये प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होते हैं। निर्विकल्पक होने से व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) नहीं हो सकते और जो व्यवसायात्मक नहीं है, वह स्वविषय का उपदर्शक भी नहीं हो सकता है और जो स्वविषय का उपदर्शक नहीं हो सकता है वह अर्थ का प्रापक भी नहीं हो सकता है और जो अर्थ का प्रापक ही नहीं है, वह अर्थ से अविस्वादक कैसे हो सकता है? इस प्रकार विद्यानन्द धर्मकीर्ति की प्रत्यक्ष-प्रमाण की अविस्वादकता का खण्डन कर देते हैं।

अनुमान के संदर्भ में भी विद्यानन्द लिखते हैं कि बौद्धों के अनुसार अनुमान भ्रान्त है और यदि अनुमान भ्रान्त है तो फिर वह अविस्वादक कैसे हो सकता है? दूसरे अनुमान का आलम्बन सामान्य है और बौद्ध परम्परा के अनुसार सामान्य, मिथ्या या अवास्तविक है। सामान्य के आलम्बन के बिना अनुमान संभव ही नहीं है, अतः उसके अविस्वादक होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार विद्यानन्द धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविस्वादक नामक लक्षण का उन्हें मान्य प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों से खण्डन कर देते हैं। विद्यानन्द का कहना है कि बौद्ध प्रमाणव्यवस्था में प्रमाण का

अविसंवादक नामक लक्षण घटित नहीं हो सकता है। धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक लक्षण का खण्डन जैन दार्शनिक विद्यानन्द के अतिरिक्त अभयदेवसूरि ने अपनी **सन्मतितर्कप्रकरण** की **तत्त्वबोधायनीटीका** में, सिद्धर्षि ने **न्यायावतार** की **विवृति** में, प्रभाचन्द्र ने **प्रमेयकमलमार्तण्ड** में, वादिदेवसूरि ने **प्रमाणानयतत्त्वालोक** की स्वोपज्ञवृत्ति **स्याद्वादरत्नाकर** में तथा हेमचन्द्र ने **प्रमाणमीमांसा** की स्वोपज्ञटीका में इसका खण्डन किया है। विस्तार भय से यहाँ उस समस्त चर्चा में जाना संभव नहीं है। ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के प्रमाणलक्षण में अविसंवादकता का जो खण्डन किया है वह बौद्धों की पारमार्थिक दृष्टि के आधार पर ही किया है। जैनों का कथन है कि अविसंवादिता नामक प्रमाणलक्षण पारमार्थिकदृष्टि से घटित होना चाहिए, तभी अविसंवादक ज्ञान को प्रमाण का सामान्य लक्षण स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु यह भी सत्य है कि धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिक प्रमाण के अविसंवादिता नामक लक्षण को सांख्यिक दृष्टि से ही घटित करते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं, क्योंकि बौद्ध दार्शनिक प्रमाणव्यवस्था को सांख्यिक आधार पर ही मान्य करते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से तो उनके यहाँ प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था बनती ही नहीं है।

प्रमाणों के प्रकार :-

जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या में कालक्रम में परिवर्तन होता रहा है। अर्धमागधी जैन आगमों में **भगवतीसूत्र** एवं **अनुयोगद्वारसूत्र** में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम ऐसे चार प्रमाण प्रतिपादित किये गए हैं। **स्थानांगसूत्र** में इन्हीं चार प्रमाणों को हेतु शब्द से अभिहित किया गया है। इसी सूत्र में अन्यत्र व्यवसाय शब्द से अभिहित करते हुए प्रमाणों के तीन भेद बताए गए हैं - १. प्रत्यक्ष, २. प्रात्ययिक और ३. अनुगामी। इस प्रकार जैन आगमों में कहीं चार और कहीं तीन प्रमाणों के उल्लेख मिलते हैं। आगमों में जिन चार या तीन प्रमाणों का उल्लेख हुआ है वे क्रमशः न्यायदर्शन एवं सांख्यदर्शन को भी मान्य रहे हैं। चाहे इन प्रमाणों के स्वरूप एवं भेद-प्रभेद विवेचनाओं में अंतर हो, किन्तु नामों के संदर्भ में कोई मतभेद नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण के भेदों के संबंध में जैनों ने न्यायदर्शन का अनुकरण न करके अपनी ही दृष्टि से चर्चा की है और वहाँ प्रत्यक्ष के “केवल” और “नो केवल” ऐसे दो विभाग किए गए हैं। यही दोनों विभाग परवर्ती जैन न्याय के ग्रंथों में भी सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष के रूप में उपलब्ध होते हैं। **अनुयोगद्वारसूत्र** में इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर उसके इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् मानस प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद किए हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का उल्लेख होते हुए भी उसके भेद-प्रभेद की अपेक्षा से जैन दर्शन और न्याय दर्शन में मतभेद है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन आगमों में प्रमाण के जो चार भेद किए गए हैं वे ही चार भेद बौद्ध ग्रंथ **उपायहृदय** में भी मिलते हैं। (अथ कतिविधं चतुर्विधं प्रमाणम्। प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्चेति - **उपायहृदय**, पृ० १३)

उपायहृदय को यद्यपि चीनी स्रोत नागार्जुन की रचना मानते हैं, किंतु जहाँ नागार्जुन **वैदल्यसूत्र** में एवं **विग्रहव्यावर्तनी** में प्रमाण एवं प्रमेय का खण्डन करते हैं, वहाँ **उपायहृदय** में वे उनका मण्डन करें, यह संभव प्रतीत नहीं होता, फिर भी यह ग्रंथ बौद्ध न्याय का प्राचीन ग्रंथ होने के साथ-साथ न्यायदर्शन और जैनों की आगमिक प्रमाण व्यवस्था का अनुसरण करता प्रतीत होता है। यहाँ एक विशेष महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि जैनग्रन्थ **अनुयोगद्वारसूत्र**, बौद्धग्रन्थ **उपायहृदय**, न्यायदर्शन और सांख्यदर्शन में अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् - ऐसे तीन भेद भी समान रूप से उपलब्ध होते हैं। यहीं ज्ञातव्य है कि, बौद्धग्रन्थ **उपायहृदय**, **न्यायसूत्र** और सांख्यदर्शन में दृष्टसाधर्म्यवत् के स्थान पर 'सामान्यतोदृष्ट' शब्द का उल्लेख हुआ है। ऐसा लगता है कि, भारतीय न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक विकास के काल में जैन, बौद्ध, न्याय एवं सांख्य दर्शन में कुछ एकरूपता थी, जो कालांतर में नहीं रही। प्रमाण संख्या को लेकर जहाँ जैन परम्परा में कालक्रम में अनेक परिवर्तन हुए हैं वहाँ बौद्ध परम्परा में **उपायहृदय** के पश्चात् एक स्थिरता परिलक्षित होती है। **उपायहृदय** के पश्चात् दिङ्नाग से लेकर परवर्ती सभी बौद्ध आचार्यों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो ही प्रमाण माने हैं।

प्रमाणों की संख्या को लेकर जैन परम्परा में हमें तीन प्रकार की अवधारणाएं मिलती हैं। सर्वप्रथम आगम युग में जैन परम्परा में चार प्रमाण स्वीकार किए गए थे। उसके पश्चात् **तत्त्वार्थसूत्र** (२री-३री शती) में प्रमाण के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ऐसे दो भेद किये गये। सिद्धसेन दिवाकर (चौथी शती) ने अपने **न्यायावतार** में आगमिक युग के औपम्य को अलग करके तीन प्रमाण ही स्वीकार किए। **तत्त्वार्थसूत्र** में पांच ज्ञानों को प्रमाण कहकर मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष प्रमाण के रूप में तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया था। उमास्वाति का प्रमाणवाद वस्तुतः आगमिक पंच ज्ञानवाद से प्रभावित है। जबकि सिद्धसेन की प्रमाण व्यवस्था आगमिक एवं अन्य दर्शनों के प्रमाणवाद से प्रभावित है। सिद्धसेन के पश्चात् और अकलंक के पूर्व तक हरिभद्र आदि जैन आचार्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण ही मानते रहे, किन्तु लगभग आठवीं शताब्दी में अकलंक ने सर्वप्रथम स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण मानकर जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या छः निर्धारित की। अकलंक ने अपने ग्रंथों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क भी प्रस्तुत किए हैं, उनके पश्चात् सिद्धर्षि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि जैन आचार्यों ने अपनी-अपनी कृतियों

में विस्तार से स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क का स्वतंत्र प्रमाण्य स्थापित किया है। विस्तारभय से यहाँ उन तर्कों को प्रस्तुत करना संभव नहीं है। फिर भी यह ज्ञातव्य है कि अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि ने बौद्धाचार्यों द्वारा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण नहीं मानने का अनेक युक्तियों से खण्डन किया है।

जहाँ तक आगम प्रमाण का प्रश्न है, बौद्ध वैशेषिकों के समान ही इसका अंतर्भाव अनुमान प्रमाण में करते हैं। जबकि जैन उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि, जैन दार्शनिकों के समान ही धर्मकीर्ति भी शब्द को पौरुषेय मानते हैं। फिर भी वे उसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते। जबकि जैन दार्शनिक अकलंक, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि ने आगम को स्वतंत्र प्रमाण मानने के संदर्भ में अनेक युक्तियाँ दी हैं, साथ ही बौद्धों द्वारा आगम को अनुमान में समाहित करने के दृष्टिकोण की विस्तृत समीक्षा भी की है। जैन दार्शनिकों का यह वैशिष्ट्य है कि उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम का परोक्षप्रमाण में अन्तर्भाव करके भी प्रत्येक को स्वतंत्र रूप से प्रमाण माना है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को स्वतंत्र रूप से प्रमाण का स्थान देना केवल जैनदर्शन का ही वैशिष्ट्य है। अन्य दर्शनों ने इनकी उपयोगिता को तो स्वीकार किया, किन्तु उन्हें स्वतंत्र प्रमाण होने का गौरव नहीं दिया।

प्रमेय का स्वरूप एवं समीक्षा :-

जहाँ तक प्रमेय का प्रश्न है, जैन दर्शन में उत्पादव्ययघ्नौव्यलक्षणयुक्त सामान्य, विशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुतत्त्व या अर्थ को ही समस्त प्रमाणों का विषय माना है। जैन दार्शनिक बौद्ध दार्शनिकों के समान अलग-अलग प्रमाणों के लिए अलग-अलग प्रमेयों की व्यवस्था नहीं करते हैं। वस्तुतः जहाँ बौद्ध प्रमाणव्यवस्थावादी हैं वहाँ जैन प्रमाणसंप्लववादी हैं। बौद्ध दर्शन में प्रमेय दो हैं - १. स्वलक्षण और २. सामान्य लक्षण। पुनः उनके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण अर्थ अर्थात् परमार्थसत् है और अनुमान प्रमाण का विषय सामान्यलक्षण या संवृत्तिसत् है। यद्यपि बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति स्वलक्षण को ही एक मात्र प्रमेय मानते हैं, क्योंकि उसी में अर्थक्रियासामर्थ्य है। जैन दार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के दर्शन को विज्ञानद्वैतवाद माना है, विज्ञानद्वैतवादी होने के कारण धर्मकीर्ति के मत में परमार्थसत् तो एक ही है अतः प्रमेय भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते, यदि सामान्यलक्षण को प्रमेय कहा जायेगा तो वह तो काल्पनिक और अवस्तु रूप है, वह प्रमेय नहीं हो सकता है। पुनः जैन दार्शनिकों का कहना है प्रमेय या अर्थ जब भी प्रतिभासित होता है, वह सामान्य विशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक ही होता है। द्रव्य से रहित पर्याय और पर्याय से रहित द्रव्य की अनुभूति नहीं है, उसी प्रकार सामान्य से रहित विशेष और विशेष से रहित सामान्य

की भी कहीं अनुभूति नहीं है। व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि अनुस्यूत हैं, अतः बौद्ध दार्शनिकों का सामान्यलक्षण प्रमेय नहीं हो सकता, क्योंकि वह वस्तुसत् या स्वलक्षण नहीं है। पुनः अकलंक का कहना है कि मात्र स्वलक्षण भी प्रमेय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका भी अलग से कहीं बोध नहीं होता है और न वह अभिधेय होता है। अतः प्रमाण का विषय या प्रमेय तो सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही हैं। पुनः बौद्धों ने जिसे स्वलक्षण कहा उसे या तो क्षणिक मानना होगा या नित्य मानना होगा, किन्तु एकांत क्षणिक और एकांत नित्य में भी अर्थक्रिया सम्भव नहीं हैं, जबकि स्वलक्षण को अर्थक्रिया में समर्थ होना चाहिए, अतः जैन दार्शनिकों का कथन है कि नित्यानित्य या उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तु ही प्रमेय हो सकती है। यहाँ ज्ञातव्य है कि बौद्ध दार्शनिक भी परमतत्त्व, परमार्थ या स्वलक्षण को न तो नित्य मानते हैं और न अनित्य मानते हैं। जैन और बौद्ध दर्शन में मात्र अन्तर यह है कि जहाँ जैन दर्शन विधिमुख से उसे नित्यानित्य, सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक कहता है, वहाँ बौद्ध दर्शन उसके संबंध में निषेधमुख से यह कहता है कि वह सामान्य भी नहीं हैं, विशेष भी नहीं है, शाश्वत भी नहीं है, विनाशशील भी नहीं है आदि। प्रमेय के स्वरूप के संबंध में दोनों में जो अन्तर है वह प्रतिपादन की विधिमुख और निषेधमुख शैली का है। इस प्रकार दोनों दर्शनों में प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप के संबंध में क्वचित् समानताएँ और क्वचित् भिन्नतायें हैं।

उपसंहार :-

बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा में जो समानताएँ और असमानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है -

१. जैन और बौद्ध दर्शन दोनों ही दो प्रमाण मानते हैं, किन्तु जहाँ जैनदर्शन प्रमाण के इस द्विविध में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों का उल्लेख करता है, वहाँ बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रमाण के द्विविधवर्गीकरण के संबंध में एकमत होते हुए भी उनके नाम और स्वरूप को लेकर दोनों में मतभेद है। दोनों दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण तो समान रूप से स्वीकृत हैं, किन्तु दूसरे प्रमाण के रूप में जहाँ बौद्ध अनुमान का उल्लेख करते हैं, वहाँ जैन परोक्ष प्रमाण का उल्लेख करते हैं और परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों में एक भेद अनुमान प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्षप्रमाण में वे स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम को भी प्रमाण मानते हैं।
२. बौद्धदर्शन में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक दो प्रमेयों के लिए दो अलग-अलग प्रमाणों की व्यवस्था की गई है, क्योंकि उनके अनुसार स्वलक्षण का निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। किन्तु जैन दर्शन वस्तुतत्त्व को सामान्यविशेषात्मक

मानकर यह मानता है कि जिस प्रमेय को किसी एक प्रमाण से जाना जाता है उसे अन्य-अन्य प्रमाणों से भी जाना जा सकता है, अर्थात् सभी प्रमेय सभी प्रमाणों के विषय हो सकते हैं, जैसे अग्नि को प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से जाना जा सकता है। इस आधार पर विद्वानों ने बौद्धदर्शन को प्रमाणव्यवस्थावादी और जैनदर्शन को प्रमाणसंप्लववादी कहा है।

३. प्रमाणलक्षण के संबंध में भी दोनों में कुछ समानताएँ और कुछ मतभेद हैं। प्रमाण की अविस्वादकता दोनों को मान्य है, किन्तु अविस्वादकता के तात्पर्य को लेकर दोनों में मतभेद है। जहाँ जैनदर्शन अविस्वादकता का अर्थ ज्ञान में आत्मगत संगति और ज्ञान और उसके विषय (अर्थ) में वस्तुगत संगति और उसका प्रमाणों से अबाधित होना मानता है, वहीं बौद्धदर्शन अविस्वादकता का संबंध अर्थक्रिया से जोड़ता है। बौद्ध दर्शन में अविस्वादकता का अर्थ है अर्थक्रियास्थिति, अवंचकता और अर्थप्रापकता। इस प्रकार दोनों दर्शनों में अविस्वादकता का अभिप्राय भिन्न-भिन्न है। दूसरे बौद्धदर्शन में अविस्वादकता को सांख्यव्यवहारिक स्तर पर माना गया है जबकि जैन दर्शन का कहना है कि अविस्वादकता पारमार्थिक स्तर पर होना चाहिए। प्रमाण के दूसरे लक्षण अनधिगत अर्थ का ग्राहक होना, अकलंक आदि कुछ दार्शनिकों को तो मान्य है, किन्तु विद्यानन्द आदि कुछ जैन दार्शनिक इसे प्रमाण का आवश्यक लक्षण नहीं मानते हैं।
४. जैन और बौद्ध दोनों दर्शन इस संबंध में एकमत हैं कि प्रमाण ज्ञानात्मक है। वे ज्ञान के कारण या हेतु (साधन) को प्रमाण नहीं मानते हैं, फिर भी जहाँ जैन दार्शनिक प्रमाण को व्यवसायात्मक मानते हैं वहाँ बौद्ध दार्शनिक कम से कम प्रत्यक्ष प्रमाण को तो निर्विकल्पक मानकर व्यवसायात्मक नहीं मानते हैं।
५. बौद्ध दर्शन में जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक और अनुमान प्रमाण को सविकल्पक माना गया है वहाँ जैन दर्शन दोनों ही प्रमाणों को सविकल्पक मानता है, क्योंकि उनके अनुसार प्रमाण व्यवसायात्मक या निश्चयायात्मक ही होता है। उनका कहना है कि प्रमाण ज्ञान है और ज्ञान सदैव सामान्यविशेषणात्मक और सविकल्पक ही होता है। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में दर्शन और ज्ञान में भेद किया गया है। यहाँ दर्शन को सामान्य एवं निर्विकल्पक और ज्ञान को विशेष और सविकल्पक कहा गया है। बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुतः जैनों का “दर्शन” है।
६. जैनदर्शन में सिद्धसेन दिवाकर ने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों को ही अभ्रान्त माना है, जबकि बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष को अभ्रान्त तथा अनुमान को भ्रान्त कहा गया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की अभ्रान्तता तो दोनों को स्वीकार्य है, किन्तु अनुमान

की अभ्रान्तता के संबंध में दोनों में वैमत्य (मतभेद) है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि जो भ्रान्त हो, उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

७. बौद्धदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को अभ्रान्त कहकर उसे प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है, जबकि जैनदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को, जिसे वे अपनी पारिभाषिक शैली में “दर्शन” कहते हैं, प्रमाण की कोटि में स्वीकार नहीं करते हैं। जैनों के यहाँ दर्शन प्रमाण नहीं है क्योंकि वह मात्र अनुभूत है, निर्णीत नहीं। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण व्यवसायात्मक होने से सविकल्पक ही होता है निर्विकल्पक दर्शन अर्थात् बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है।
८. प्रमाण की परिभाषा को लेकर भी दोनों में कथंचित् मतभेद देखा जाता है। बौद्ध दर्शन में प्रमाण को स्व का प्रकाशक माना गया है, पर का प्रकाशक नहीं। क्योंकि उनके यहाँ योगाचार दर्शन में अर्थ अर्थात् प्रमाण का विषय (प्रमेय) भी वस्तुरूप न होकर ज्ञान रूप ही है। जबकि जैन दर्शन में प्रमाण को स्व पर अर्थात् अपना और अपने अर्थ का प्रकाशक माना गया है। (स्वपरव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्) जैनों के अनुसार प्रमाण स्वयं अपने को और अपने विषय को दोनों को ही जानता है। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन “प्रत्यक्ष” को कल्पनाजन्य तो नहीं मानते हैं, किन्तु कल्पना रहित होने का तात्पर्य है वस्तुसत् अर्थात् वस्तुगतसत्ता (Objective Reality) होना है, जबकि बौद्ध दर्शन में कल्पना रहित होने का अर्थ अनुभूत सत् या आत्मगतसत्ता (Subjective Reality) है।
९. बौद्ध दार्शनिक अनुमान के दो भेद करते हैं, स्वार्थ और परार्थ। जैन दार्शनिक भी अनुमान के इन दोनों भेदों को स्वीकार करते हैं, किंतु जैनदार्शनिक सिद्धसेन न्यायावतार में प्रत्यक्ष के भी स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद करते हैं। सिद्धसेन दिवाकर के अतिरिक्त कुछ अन्य जैन आचार्यों जैसे शांतिसूरि एवं वादिदेवसूरि ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है।
१०. प्रत्यक्षप्रमाण के स्वरूप एवं भेदों को लेकर भी दोनों में मतभेद देखा जा सकता है। प्रथम तो जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है जहाँ बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष को कल्पना से रहित और निर्विकल्पक मानते हैं वहाँ जैन दार्शनिक उसे सविकल्पक कहते हैं। पुनः बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष के जैनों के समान सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ऐसे दो भेद नहीं करते हैं। उनके यहाँ प्रत्यक्ष के चार भेद हैं-
 १. स्वसंवेदना प्रत्यक्ष २. इन्द्रिय प्रत्यक्ष ३. मानस प्रत्यक्ष और ४. योगज प्रत्यक्ष।
 प्रथम तो जहाँ जैन इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, वहाँ बौद्ध प्रत्यक्ष में ऐसा कोई विभाजन नहीं करते। पुनः जहाँ जैन दर्शन में इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ऐसे

चार भेद किए गए हैं वहाँ बौद्ध दर्शन में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। बौद्ध दर्शन में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में योगज प्रत्यक्ष को रखा गया है जबकि जैन दर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान या पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप में अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान को रखा गया है। जहाँ तक बौद्ध स्वसंवेदन का प्रश्न है, जैनों ने उसे दर्शन कहा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के स्वरूप और प्रकारों को लेकर दोनों में मतभेद है।

११. पुनः प्रत्यक्ष प्रमाण के अंतर्गत इन्द्रिय प्रत्यक्ष में जहाँ बौद्ध दार्शनिक श्रोतेन्द्रिय और चक्षु-इन्द्रिय दोनों को अप्राप्यकारी मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक केवल चक्षु-इन्द्रिय को ही अप्राप्यकारी मानते हैं। जैनों के अनुसार श्रोतेन्द्रिय शब्द का ग्रहण इन्द्रिय सम्पर्क होने के आधार पर ही करती हैं, दूर से नहीं करती है। इस प्रकार श्रोतेन्द्रिय की प्राप्यकारिता को लेकर दोनों में मतभेद है। रत्नप्रभ की **रत्नाकरावतारिका** में अनेक तर्कों के आधार पर श्रोतेन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध किया गया है। किन्तु चक्षु-इन्द्रिय को दोनों ही अप्राप्यकारी मानते हैं।
१२. हेतु के लक्षण को लेकर भी दोनों परम्पराओं में मतभेद देखा जा सकता है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक त्रैरूप्य हेतु अर्थात् पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष-असत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक साध्यसाधन अविनाभाव अर्थात् अन्यथानुपलब्धि को ही हेतु का एकमात्र लक्षण बताते हैं। जैन दार्शनिक पात्रकेसरी ने तो एतदर्थ **त्रिलक्षणकदर्शन** नामक स्वतंत्र ग्रंथ की ही रचना की थी।
१३. अनुपलब्धि को जहाँ बौद्ध दार्शनिक मात्र निषेधात्मक या अभाव रूप मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक उसे विधि-निषेध रूप मानते हैं।



कर्म-साहित्य में तीर्थङ्कर

डॉ० धर्मचन्द जैन*

जिस जीव के नामकर्म की तीर्थङ्कर नामक प्रकृति का उदय रहता है, उसे तीर्थङ्कर कहा जाता है। तीर्थङ्कर का यह लक्षण कर्म-सिद्धान्त के अनुसार है। तीर्थङ्कर की महिमा निराली है। उनके गुणवर्णन में **शक्रस्तव** जैसे अनेक स्तुति-पाठ एवं स्तोत्र उपलब्ध हैं। आगम, पुराण, महाकाव्य, इतिहास, स्तोत्र-साहित्य आदि में तीर्थङ्करों के स्वरूप एवं महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। तीर्थङ्कर केवलज्ञानी होते हैं, किन्तु सामान्य केवली एवं तीर्थङ्करों में महद् अन्तर होता है। तीर्थङ्कर अष्ट महाप्रातिहार्यों से युक्त होते हैं, किन्तु केवली नहीं। तीर्थङ्कर नामकर्म के विपाकोदय के पूर्व ही गर्भस्थ बालक की माता द्वारा १४ स्वप्न देखना, ६४ इन्द्रों द्वारा पूजा-भक्ति करना आदि अनेक कारणों से तीर्थङ्कर की महिमा विशेष है। तीर्थङ्कर १००८ लक्षणों एवं ३४ अतिशयों से सम्पन्न होते हैं।^१ उनकी वाणी में ३५ विशिष्ट गुण^२ माने गए हैं, जबकि सामान्य केवली में इनका होना आवश्यक नहीं है। तीर्थङ्कर लोकहित की भावना से समस्त जीवों की रक्षा-दया के लिए प्रवचन फरमाते हैं।^३ तीर्थङ्कर की मुख्य विशेषता है कि वे साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ के प्रणेता होते हैं। **भगवतीसूत्र** में अरिहन्त को तीर्थङ्कर कहा गया है।^४ तीर्थङ्कर के पंच कल्याणक मान्य हैं^५, सामान्य केवली के नहीं। तीर्थङ्कर प्रकृति का इतना प्रभाव होता है कि इसके उदय से पूर्व ही तीर्थङ्कर इन्द्रों के पूजनीय बन जाते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय एवं मोहनीय इन चार घाती कर्मों का क्षय करने की दृष्टि से तीर्थङ्कर एवं सामान्य केवली में कोई भेद नहीं होता, किन्तु दोनों के अतिशय में बड़ा भेद है और इसका कारण तीर्थङ्कर नाम प्रकृति है। दिग्म्बर ग्रन्थ **धवला टीका** में कहा गया है - 'जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स तिलोगपूजा होदि तं तित्थयरं णामा'^६ अर्थात् जिस कर्म के उदय से जीव की त्रिलोक में पूजा होती है, वह तीर्थङ्कर नाम कर्म है। **सर्वार्थसिद्धि** में इसे आर्हन्त्य का कारण बताया गया है।^७ तीर्थ का एक अर्थ द्वादशांग, गणिपिटक भी किया जाता है,^८ क्योंकि उसके आलम्बन से संसार-समुद्र को तैरा जा सकता है। **विशेषावश्यकभाष्य** में उल्लेख है कि तीर्थङ्कर भी तीर्थ को नमस्कार करते हैं - नमस्तीर्थाया।^९ इससे तीर्थ का महत्त्व उद्घाटित होता है। तीर्थ के महत्त्व से तीर्थङ्कर का महत्त्व स्वतः बढ़ता है। तीर्थ के अन्तर्गत श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्वर्णों की गणना होती है।^{१०}

* एसोशिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

तीर्थङ्कर की गणना ५४ महापुरुषों में होती है। ५४ महापुरुष हैं - २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव और ९ वासुदेव। इनमें ९ प्रतिवासुदेवों की संख्या मिलाने पर ६३ शलाकापुरुष कहे गए हैं।^{११} इनमें तीर्थङ्कर को छोड़कर अन्य किसी महापुरुष की ऐसी कर्म-प्रकृति का उल्लेख नहीं मिलता जिसके कारण उन्हें चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव या प्रतिवासुदेव कहा जा सके। मात्र तीर्थङ्कर ही ऐसे महापुरुष या शलाका-पुरुष हैं जिनको तीर्थङ्कर नाम कर्म-प्रकृति का गौरव प्राप्त है।

इस तीर्थङ्कर नाम कर्म के आधार पर चिन्तन किया जाये, तो आगम एवं कर्मविषयक-साहित्य में तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में अनेक नये तथ्य उद्घाटित होते हैं। जब यह निश्चित है कि तीर्थङ्कर नामक एक कर्मप्रकृति का उदय होने पर ही कोई केवली तीर्थङ्कर बनता है, तो वह कर्म-प्रकृति किस प्रकार बँधती है? कौन से जीव बाँधते हैं? उदय में कब आती है? उदीरणा कब होती है और सत्ता में कहाँ-कहाँ रहती है? एतद्विषयक चिन्तन आवश्यक है।

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में मल्लिनाथ के प्रकरण में तीर्थङ्कर नाम गोत्र के उपार्जन हेतु २० बोलों का निरूपण हुआ है।^{१२} वे बीस बोल हैं - (१-७) अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत, तपस्वी - इन सातों के प्रति प्रियता, भक्ति या वात्सल्यता का होना (८) ज्ञान का बारम्बार उपयोग करना (९) दर्शन सम्यक्त्व का विशुद्धि होना (१०) विनय होना (११) आवश्यक क्रियाएँ (सामायिक आदि) करना (१२) शीलव्रतों का निरतिचार पालन करना (१३) क्षण-लव प्रमाण काल में संवेग (तथा भावना एवं ध्यान) का सेवन करना (१४) तप करना (१५) त्याग - मुनियों को दान देना (१६) अपूर्व अर्थात् नवीन ज्ञान ग्रहण करना (१७) समाधि - गुरु आदि को साता उपजाना (१८) वैयावृत्य करना (१९) श्रुत की भक्ति करना और (२०) प्रवचन की प्रभावना करना। ये सभी २० बोल सम्यग्दर्शनी मनुष्य में सम्भव हैं। जब उसमें निर्मलता आती है तब इन २० कारणों या इनमें से किसी के भी बार-बार आराधन से तीर्थङ्कर प्रकृति का उपार्जन हो सकता है।

तत्त्वार्थसूत्र में तीर्थङ्कर नाम के उपार्जन हेतु १६ कारणों का ही निरूपण है।^{१३} वे १६ कारण हैं - (१) दर्शनविशुद्धि (मोक्षमार्ग में रुचि) (२) विनय सम्पन्नता (३) शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन (४) ज्ञान में सतत उपयोग (५) सतत संवेग (६) शक्ति के अनुसार तप (८) साधुओं की समाधि में योगदान (९) वैयावृत्य (१०) अरिहन्त भक्ति (११) आचार्य भक्ति (१२) बहुश्रुत (१३) प्रवचन भक्ति (१४) आवश्यक क्रियाओं में संलग्नता (१५) मोक्षमार्ग (१६) प्रवचन वात्सल्या।

तत्त्वार्थसूत्र में निरूपित इन १६ कारणों को पृथक्-पृथक् रूपेण भी सम्यग्भावित किया जाये तो तीर्थङ्कर प्रकृति का उपार्जन सम्भव है। इन्हें तीर्थङ्कर प्रकृति के आस्रव का कारण कहा गया है।^{१४} **ज्ञाताधर्मकथा** में **तत्त्वार्थसूत्र** से चार कारण

अधिक प्रतिपादित हैं, यथा-सिद्ध, स्थविर एवं तपस्वी की भक्ति तथा नये ज्ञान का ग्रहण। इन चार कारणों के अतिरिक्त न्यूनाधिक रूप से समानता है। **तत्त्वार्थसूत्र** में जहाँ आचार्य की भक्ति का उल्लेख है वहाँ **ज्ञाताधर्मकथा** में गुरु की भक्ति का उल्लेख है। दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित ये बोल भक्ति, श्रद्धा एवं मोक्षरुचि वाले सम्यग्दर्शनी मनुष्य को ही तीर्थङ्कर प्रकृति के अर्जन का पात्र मानते हैं। **आवश्यकनिर्युक्ति** में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्यगति का जीव शुभ लेश्या वाला होकर इन बीस बोलों में से किसी का भी सेवन करता है तो वह तीर्थङ्कर नामकर्म का उपार्जन करता है।^{१५}

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार भी जो सम्यग्दर्शन की अवस्था वाला मनुष्य है, वही तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ करता है। अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिबादर नामक आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक तीर्थङ्कर प्रकृति (जिननाम) का बन्ध होता है।^{१६} इस प्रकृति का उदय तेरहवें सयोगी केवली एवं चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान में होता है। केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ ही तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय प्रारम्भ हो जाता है, जो चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। तीर्थङ्कर प्रकृति की उदीरणा होना भी सम्भव है। यह उदीरणा मात्र १३वें गुणस्थान में होती है। सत्ता की दृष्टि से विचार किया जाये, तो इस प्रकृति की सत्ता प्रायः चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक रहती है,^{१७} किन्तु एक अपवाद के रूप में बद्धनरकायु की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त के लिए मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान में भी तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता पायी जाती है।^{१८}

प्रश्न यह होता है कि तीर्थङ्कर प्रकृति किस प्रकार के सम्यग्दर्शन में बाँधना प्रारम्भ होती है? सम्यग्दर्शन के मुख्यतः तीन प्रकार हैं - क्षायोपशमिक, क्षायिक एवं औपशमिक। कर्मसिद्धान्त के अनुसार इन तीनों ही प्रकार के सम्यक्त्व में तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध सम्भव है। **गोममत्सार** 'कर्मकाण्ड' में कहा गया है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व की अवस्था में अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर चार गुणस्थानों तक के मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ करते हैं। इसी प्रसंग में एक विशेष बात यह कही गई है कि तीर्थङ्कर केवली अथवा श्रुत केवली के निकट ही कोई तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध प्रारम्भ करता है।^{१९}

तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्धने के सम्बन्ध में और भी अनेक तथ्य हैं, यथा -

१. यदि कोई मनुष्य एक बार तीर्थङ्कर प्रकृति को बाँधना प्रारम्भ करता है, तो वह निरन्तर ही इसका बंधन करता रहता है।^{२०} यह बंधन उस जीव के देवगति या नरकगति में जाने पर भी जारी रहता है।^{२१} पुनः मनुष्यगति में आने पर वह केवलज्ञान प्रकट होने के अन्तर्मुहूर्त पूर्व तक इसका बंधन करता रहता है।^{२२} इसके निरन्तर बंधने के संबंध में दो अपवाद हैं।

(अ) पहले नरकायु बाँधने के पश्चात् क्षायोपशम सम्यग्दृष्टि प्राप्त करके कोई जीव यदि तीर्थङ्कर नाम प्रकृति को बाँधना प्रारम्भ करता है, तो वह मनुष्य भव के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व में चला जाता है।^{२३} मिथ्यात्व गुणस्थान में रहता हुआ वह तीसरी नरक तक में जन्म ले सकता है। वहाँ पर्याप्त अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् वह पुनः सम्यग्दर्शनी बन जाता है। मनुष्यगति से जाने एवं नरक में अपर्याप्त रहने का यह काल भी अन्तर्मुहूर्त परिमाण होता है। इतने काल के लिए तीर्थङ्कर प्रकृति का बाँधना रुक जाता है। शेष सभी समय यह प्रकृति निरन्तर बाँधती रहती है।

(ब) तीर्थङ्कर नामकर्म को बाँधता हुआ जीव उपशमश्रेणि में चढ़ता है, तो वह आठवें गुणस्थान के सातवें भाग से ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशम श्रेणि के समय तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध नहीं करता है। यह अवस्था भी एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं होती।

इस तरह दो अपवादों को छोड़कर तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध एक बार प्रारम्भ होने के पश्चात् निरन्तर होता रहता है।

(२) तीर्थङ्कर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध चौथे गुणस्थान में तब होता है, जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जीव मिथ्यात्व के अभिमुख हो। मिथ्यात्व के अभिमुख वह जीव होता है, जिसने पहले ही नरक का आयुष्य बाँध लिया हो। ऐसा जीव ही तीर्थङ्कर प्रकृति का उत्कृष्ट बंध करता है। किसी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति संक्लेश (कषायवृद्धि) से बाँधती है। चाहे वह पुण्य प्रकृति हो या पाप प्रकृति। सभी प्रकृतियों की स्थिति कषाय से बाँधती है। अतः तीर्थङ्कर नामक पुण्य प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति का बंध उस अविरतसम्यग्दृष्टि जीव के होता है, जो मिथ्यात्व के अभिमुख हो।^{२४} तीर्थङ्कर प्रकृति का जघन्य स्थितिबंध आठवें गुणस्थान के छठे भाग में होता है, क्योंकि वह विशुद्ध अवस्था होती है।

(३) तीर्थङ्कर प्रकृति बंधने का नरकगति एवं तिर्यच गतियों के बन्ध के साथ विरोध है।^{२५} अर्थात् तीर्थङ्कर प्रकृति बंधने के पश्चात् ये दोनों गतियाँ नहीं बाँधती हैं। पहले ही किसी जीव ने नरकायु बाँध लिया हो, यह तो सम्भव है, किन्तु तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधने के पश्चात् नरकायु का बन्धन भी सम्भव नहीं है। नरक गति एवं तिर्यच गति तो क्रमशः पहले एवं दूसरे गुणस्थान में ही बाँधती है। तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधने वाले जीव के केवल देवगति बाँधती है। यह उल्लेखनीय है कि देवी तीर्थङ्कर नहीं बनती हैं, अतः तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधने वाला देव ही बनता है, देवी नहीं।^{२६} वह तीन किल्बिषिक को छोड़कर वैमानिक देव में जा सकता है।

(४) जिस जीव ने पहले मनुष्यायु एवं तिर्यचायु का बन्ध कर लिया है, उसके तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध नहीं होता है, किन्तु देवायु एवं नरकायु बाँधने के पश्चात् तीर्थङ्कर

प्रकृति का बन्धन हो सकता है। **धवला टीका** में एक प्रश्न उठाया गया कि तिर्यंचायु बाँधने वाले को सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति बाँधने में क्या बाधा है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया कि जिस भव में तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध प्रारम्भ किया है, उससे तृतीय भव में तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता वाले जीवों के मोक्ष जाने का नियम है,^{२७} जो देव एवं नारकी बनने पर ही सम्भव हो सकता है। तृतीय भव में मोक्ष जाने का कथन श्वेताम्बर परम्परा में भी उपलब्ध है।^{२८}

(५) तीर्थङ्कर प्रकृति का सम्बन्ध लेश्याओं से भी है। तेजो, पद्म एवं शुक्ल नामक शुभ लेश्याओं में तो तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो ही सकता है, किन्तु अशुभ लेश्याओं में से एक मात्र कापोत लेश्या ही ऐसी है, जिसमें तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो सकता है। यह तथ्य **महाबंध**, **धवला** आदि ग्रन्थों में स्पष्ट प्रतिपादित हुआ है कि नरकगति वाला जीव नील एवं कृष्ण लेश्याओं में तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध नहीं करता है। तीसरी नरक में कापोतलेश्या को ही आगामी भव में तीर्थङ्कर बनने का उल्लेख मिलता है। **महाबन्ध** के काल-प्ररूपणा-खण्ड में तीर्थङ्कर की आगति में वैमानिक से जो जीव आता है उसमें तेजो, पद्म एवं शुक्ल लेश्याएँ बतायी गई हैं तथा नरक से जो जीव आता है, उसमें एक मात्र कापोत लेश्या बतायी गई है।^{२९} श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थङ्कर की आगति में इन चार लेश्याओं के अतिरिक्त नील लेश्या का भी कथन किया जाता है,^{३०} जिसका पुष्ट कारण ध्यान में नहीं आता। विद्वज्जन इस पर विचार करें।

(६) नरक एवं देवलोक के असंख्यात जीव इस समय भी तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध कर रहे हैं। **महाबंध** में स्पष्ट कहा है - 'तित्थयराणं बंधगा असंखेज्जा'।^{३१} अर्थात् तीर्थङ्करों के बंधक असंख्यात हैं।

(७) **गोम्मटसार** में कहा गया है कि तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध तो स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक - तीनों वेदों में हो सकता है, किन्तु उदय केवल पुरुषवेद में ही होता है।^{३२} ध्यातव्य है कि स्त्री का तीर्थङ्कर होना श्वेताम्बरों ने ही मान्य किया है।^{३३} इसका उदाहरण मल्ली भगवती है।

उदय के सम्बन्ध में यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि तीर्थङ्कर प्रकृति का उदय तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में होता है। अतः जन्म लेते ही कोई तीर्थङ्कर नहीं बन जाता है। चार घाती कर्मों का क्षय करने के साथ ही तेरहवें गुणस्थान में तीर्थङ्कर प्रकृति का उदय होता है। यह बात अवश्य है कि इस प्रकृति का जिस भव में उदय होने वाला है, उसका गर्भ-प्रवेश के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। तीर्थङ्कर की माता के द्वारा चौदह या सोलह स्वप्न देखना इसी का प्रतीक है।

तीर्थङ्कर नामकर्म की उदीरणा भी सम्भव है, किन्तु यह उदीरणा मात्र तेरहवें गुणस्थान में ही होती है। चौदहवें गुणस्थान में जिन प्रकृतियों का उदय रहता है,

उनकी उदीरणा तेरहवें गुणस्थान तक ही होने का नियम है। चौदहवें में उदीरणा नहीं होती है।

सत्ता की दृष्टि से विचार किया जाये तो तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता प्रथम गुणस्थान एवं चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक पायी जाती है।^{३४} प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में तो बद्धनरकायुष्क वाले जीव की अपेक्षा से पायी जाती है, क्योंकि जिस जीव ने नरकायु का बंध करने के पश्चात् तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध प्रारम्भ किया है, वह जीव नरक के भव में जाते समय एवं वहाँ अपर्याप्त समय तक मिथ्यात्वदशा में रहता है। तथापि तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता उस जीव के पायी जाती है। चौथे से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक तो तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होने के कारण इन गुणस्थानों में सत्ता रहती ही है, किन्तु उपशमश्रेणि करते समय भी आठवें गुणस्थान के छठे भाग से ग्यारहवें गुणस्थान तक तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता रहती है, क्योंकि यह काल मात्र अन्तर्मुहूर्त का होता है एवं पूर्वबद्ध तीर्थङ्कर प्रकृति तो उस काल में भी सत्ता में रहती ही है। इसी प्रकार बारहवें क्षीणमोहनीय गुणस्थान में भी इस प्रकृति की सत्ता पूर्वबद्ध की अपेक्षा से रहती है, क्योंकि सत्ता में रहने पर ही कोई कर्म उदय में आता है।

यह उल्लेखनीय है कि तिर्यचगति के जीव में तीर्थङ्कर नाम कर्म की सत्ता नहीं पायी जाती है, क्योंकि तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध करने वाला जीव तिर्यच गति में नहीं जाता है। इसका भी कारण यह है कि तीर्थङ्कर नामकर्म को बाँधने वाला जीव (पूर्व निर्दिष्ट दो अपवादों को छोड़कर) निरन्तर इस प्रकृति का बंध करता है एवं वह बद्धनरकायु के अपवाद को छोड़कर चौथे गुणस्थान से नीचे नहीं आता है। इसलिए तीर्थङ्कर नामकर्म को बाँधने वाला जीव तिर्यच गति का बंध नहीं कर पाता। तिर्यच गति का बंध प्रथम एवं द्वितीय गुणस्थान में ही होता है, उसके पश्चात् नहीं। दूसरी बात यह भी है कि तिर्यचायु का बंध कर लेने वाला तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध नहीं करता। तीसरी एवं महत्वपूर्ण बात यह है कि तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध का प्रारम्भ मनुष्य गति में ही होता है, तिर्यचादि अन्य गतियों में नहीं। मनुष्य से वह जीव नरक या देवगति में जाता है। इसलिए इन तीन गतियों में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता रहती है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों के अनुसार तीर्थङ्कर प्रकृति का अनिकाचित बन्ध करने वाला जीव तिर्यचगति में भी जा सकता है^{३५} तथा इस प्रकृति की उद्वेलना भी हो सकती है।

तीर्थङ्कर नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोटाकोटि सागरोपम एवं अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त बताया गया है।^{३६} अतः यह प्रकृति अपनी सजातीय प्रकृतियों में संक्रमित होकर भोगी जाती है। इसी प्रकार इस प्रकृति का उद्वर्तन एवं अपवर्तन भी स्वीकार किया गया है। **पंचम कर्मग्रन्थ**, **कम्मपयडी** एवं **पंचसंग्रह** के अनुसार

तीर्थङ्कर प्रकृति अध्रुवबन्धिनी, अध्रुव सत्ताक, अघाती, पुण्य प्रकृति, अपरावर्तमान, जीव विपाकी, स्वानुदयबन्धिनी, क्रम व्यवच्छिद्यमान बंधोदया, निरन्तरबन्धिनी, अनुदय-संक्रमोत्कृष्टा एवं उदयवती है।

सन्दर्भ :

१. ३४ अतिशयों के लिए द्रष्टव्य-समवायांगसूत्र, समवाय ३४.
२. समवायांगसूत्र, समवाय ३५.
३. इमं च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्टयाए पावयणं भगवया सुकहियं।
- प्रश्नव्याकरणसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १.
४. गोयमा! अरहा ताव नियमं तित्थगरे। - व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक २०, उद्देशक ८.
५. श्रमण भगवान् महावीर के पाँच कल्याणकों का उल्लेख स्थानांगसूत्र में हुआ है। द्रष्टव्य - स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ५, उद्देशक १.
६. धवला, ६.१
७. आर्हन्त्यकारणं तीर्थङ्कर त्वनाम। - सर्वार्थसिद्धि, ८.११, पृ० ३०६ (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९९१)
८. विशेषावश्यकभाष्य, पृ० १-दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, विक्रम संवत् २०३९.
९. विशेषावश्यकभाष्य, मलधारी हेमचन्द्र टीका, पृ० १ - दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई।
१०. तित्थं पुण चाउव्वण्णाइण्णो समणसंघो, तंजहा - समणा समणीओ, सावगा साविगाओ। - व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक २०, उद्देशक ८, सूत्र १४
११. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य - त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् (आचार्य हेमचन्द्र विरचित)
१२. अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए-तवस्सीसुं।
वच्छल्लया एएसिं, अभिक्खनाणोवओगे ये ॥१॥
दंसण-विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइआरो।
खणलव-तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अप्पुव्वनाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरतं लहइ जीवो ॥३॥
- ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, अध्ययन ८; आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा - १७९-१८१

२४ : श्रमण, वर्ष ५६, अंक ७-९/जुलाई-सितम्बर २००४

१३. दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्षणं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तिस्त्यागतपसी संघसाधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिर्मार्गप्रभवनाप्रवचन वत्सलत्वमिति तीर्थकृत्वस्य। - **तत्त्वार्थसूत्र**, ६.२३

१४. तान्येतानि षोडशकारणानिसम्यग्भव्यमानानि व्यस्तानि च तीर्थङ्कर नाम-
कर्मास्रवकारणानिप्रत्येतव्यानि।-**सर्वार्थसिद्धि**, ६.२४पृ० २६१ (भारतीय ज्ञानपीठ)

१५. नियमा मणुयगईए, इत्थी पुरिसेयरो य सुहलेसो।

आसेवियबहुलेहिं, वीसाए अण्णयरएहिं। - **आवश्यकनिर्युक्ति**, १८४
(**निर्युक्तिसंग्रह**, हर्षपुष्पामृत ग्रन्थमाला)

१६. **द्वितीय कर्मग्रन्थ**, बन्ध-विवेचन, गाथा ६ एवं ९-१०.

१७. **द्वितीय कर्मग्रन्थ**, में उदय, उदीरणा एवं सत्ता का विवेचन द्रष्टव्य।

१८. **द्वितीय कर्मग्रन्थ**, श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर, परिशिष्ट
पृ० २०९-२१०.

१९. पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।

तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलदुगंते।। - **गोम्मटसार**, कर्मकाण्ड, गाथा ९३.

२०. णिरंतरो बंधो, सगबंधकारणे संते अद्धाक्खएण बंधुवरमाभावादो। - **धवला** ८.३,
३८.७४.४.

२१. निकाचित तीर्थङ्कर प्रकृति वाला जीव तिर्यचगति में नहीं जाता है,

अनिकाचित तीर्थङ्कर प्रकृति वाले जीव के तिर्यचगति में जाने का निषेध नहीं है,
यथा - जमिह निकाइय तित्थं तिरियभवे तं निसेहियं संतं।

इयरंमि नत्थि दोसो उवट्टणवट्टणासज्जे।। **पंचसंग्रह** ५.४४

विशेषणवती में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी कहा है -

तं पि सुनिकाइस्सेव तइय भवभाविणो विणिच्छिट्ठं।

अणिकाइयम्मि वच्चइ सव्वगईओ वि न विरोहो।। उद्धृत, **पंचसंग्रह**, भाग ५
पृ० १७५.

२२. आठवें गुणस्थान का जीव अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है और तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक मान्य है।

२३. तीर्थङ्कर प्रकृति का उत्कृष्ट बंध निरूपित करने के प्रसंग में यह बात स्पष्ट होती है - तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइं मणुस्सो असंजओ वेयगसम्मदिट्ठी पुव्वं नरगबद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पविवज्जिही। - **पंचसंग्रह**, प्रथमभाग,
मलयगिरि टीका, उद्धृत, **पंचम कर्मग्रन्थ** (ब्यावर) पृ० १६२.

२४.(अ) पंचम कर्मग्रन्थ, गाथा ४२.

(आ) तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइं मणुस्सो असंजाओ वेयगसम्महिट्ठी पुवं नरगबद्धउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिवज्जिही इति अंतिमे ठिईबंधे वट्टमाणो बंधइ, तब्बंधगेसु अइसंकिलिट्ठो ति काउं। - पंचसंग्रह, प्रथमभाग, मलयगिरि टीका

२५. तित्थरबंधस्स णिरय-तिरिक्खगइबंधेहि सह विरोहादो। - धवला ८.३, ३८.७४.५

२६. कप्पित्थीसु ण तित्थां। - गोम्मटसार 'कर्मकाण्ड', गाथा ११२.

२७. पारद्धतित्थयरबंधभवादो तदियभवे तित्थयरसंतकम्मियजीवाणं। मोक्खगमणणियमादो।
- धवला ८.३, ३८/७४/८, ३८/७५/१

२८.(अ) विशेषणवती, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, गाथा ७८.

(आ) बज्झई तं तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताणं। - आवश्यकनिर्युक्ति, १८३.

२९. द्रष्टव्य - महाबन्ध, प्रथम भाग, कालप्ररूपणा - पृ० ६३ (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन)

३०. कालमासे कालं किच्चा तच्चाए बालुयप्पभाए पुढवीरए उज्जलिए नरए नेरइयत्ताये उववज्जिहिसि। ----- आगमेसाए उस्सप्पिणीए ----- बारसमे अममे णामं अरहा भविस्ससि। - अंतगडदसासूत्र, वर्ग ५ (उज्ज्वल नरक में नील लेश्या ही है।)

३१. महाबन्ध, प्रथम भाग, पृ० १७७.

३२. स्त्रीषण्ठवेदयोरपि तीर्थाहारकबन्धो न विरुध्यते उदयस्यैव पुंवेदिषु नियमात्।

- गोम्मटसार 'कर्मकाण्ड', जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा-११९

३३. आगम में इसे एक आश्चर्य माना गया है। द्रष्टव्य - स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०.

३४. द्रष्टव्य, दूसरा कर्मग्रन्थ, सत्ता-विचार

३५. द्रष्टव्य, उपर्युक्त २१वाँ पाद टिप्पणा।

३६. पंचम कर्मग्रन्थ, गाथा ३३.



आवश्यकसूत्र का स्रोत एवं वैशिष्ट्य

अनिल कुमार सोनकर*

तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट एवं गणधरों द्वारा ग्रथित जैनागम साहित्य के अन्तर्गत चार मूलसूत्रों में से द्वितीय मूलसूत्र आवश्यक एक मुख्य नियम है जो आत्मा को विशुद्ध बनाकर धर्म में प्रतिष्ठित करता है। वस्तुतः जीवन की वह क्रिया जिसके अभाव में मानव आगे नहीं बढ़ सकता, वही आवश्यक कहलाती है। जीवित रहने हेतु जिस प्रकार श्वास लेना जरूरी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन की पवित्रता हेतु जो क्रिया या साधना जरूरी है, अनिवार्य है, उसे ही जैनागम परम्परा में 'आवश्यक' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। अनुयोगद्वारचूर्णि में निर्दिष्ट है कि जो गुणशून्य आत्मा को प्रशस्त भावों से आवासित करता है, वह आवासक/आवश्यक है।^१ अनुयोगद्वार की मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका में निरूपण हुआ है - जो समस्त गुणों का निवास स्थान है, वह आवासक/आवश्यक है।^२ अनुयोगद्वारसूत्र में इसके आठ पर्यायवाची नाम उपलब्ध हैं - आवश्यक, अवश्यकरणीय, धुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययन षट्कवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।^३ इन नामों में किञ्चित् अर्थबोध होने पर भी सभी नाम समान अर्थ में व्यवहृत होते हैं।

भारतीय साहित्य में 'आगम' शब्द शास्त्र का पर्यावाची है और सूत्र शब्द भी इन्हीं अर्थों में व्यवहृत होता है। संघदासगणि ने बृहत्कल्पभाष्य में 'सूत्र' शब्द को व्याख्यायित करते हुए लिखा है - जिसके अनुसरण से कर्मों का सरण होता है, अपनयन होता है, वह सूत्र है।^४ विशेषावश्यकभाष्य में निरुक्त विधि से अर्थ करते हुए लिखा गया है - जो अर्थ का सिंचन/क्षरण करता है, वह सूत्र है।^५ आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में निर्देश किया है - जिससे अर्थ सूत्रित/गुम्फित किया जाता है, वह सूत्र है।^६

यदि उक्त तथ्यों पर दृष्टिपात् करें, तो यह निष्कर्ष निःसृत होता है कि आवश्यकसूत्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें जैन साधना व आचार के मूलभूत सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है, जिसमें आध्यात्मिक समता, नम्रता प्रभृति सदगुणों का विवेचन प्रचुर मात्रा में हुआ है और साथ ही इसके परिज्ञान से साधक अपनी आत्मा को निरखता-

* आई०सी०पी०आर० फेलो, दर्शन एवं धर्म विभाग, कला संकाय, का०हि०वि०वि० वाराणसी

परखता है। **आवश्यकसूत्र** वस्तुतः आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का वह श्रेष्ठतम उपाय है, जिसकी साधना और आराधना से आत्मा शाश्वत सुख का लाभ करता है, कर्म मल को नष्ट कर सम्यक्दर्शन-ज्ञान व चारित्र्य से आध्यात्मिक आलोक को प्राप्त करता है।

आवश्यकसूत्र एक श्रुतस्कन्ध है जिसमें प्रतिपादित आचार के नियमों का पालन महावीर पूर्व में होता था, उनके समय में हुआ तथा उनके निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् भी होता रहा है। अर्थात् आचार के नियमों के पालन की अनिवार्यता प्रत्येक समय में रही है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि महावीर के पूर्व यह केवल श्रमणों हेतु आचरणीय था, तथापि महावीर ने अपने समय में चतुर्विध संघ अर्थात् श्रावक, श्राविका, श्रमण और श्रमणी सभी के लिए समान रूप से समाचरण करने की आज्ञा प्रदान की। महावीर से पूर्व **आवश्यकसूत्र** नाम अनुपलब्ध था, तथापि इसके छः अध्ययनों का पृथक-पृथक रूप से अस्तित्व ज्ञात होता है और साथ ही उनका पालन भी पृथक-पृथक रूप से सम्पन्न होता था। महावीर के समय में गणधरों ने पृथक-पृथक छः अध्ययनों को संकलित कर सूत्र रूप में गुम्फित कर उसे 'षडावश्यक' की संज्ञा से अभिहित किया।

जैनागम साहित्य में **आवश्यकसूत्र** के कर्ता व रचनाकाल के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का वर्णन प्राप्त नहीं होता है। **नवसुत्ताणि** में संभावना व्यक्ति हुई है कि **आवश्यकसूत्र** भगवान् महावीर के शासनकाल में निर्मित आगम है। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि 'आवश्यक' शब्द का सद्भाव महावीर के पूर्व में नहीं था और न ही आवश्यकसूत्र के छः अध्ययन एक-साथ एक ही स्थान पर प्राप्त होते हैं, प्रत्युत वे पृथक-पृथक रूप में पृथक-पृथक जैनागमों में सम्प्राप्त होते हैं। वस्तुतः ये संकलित रूप में महावीर के समय से ही अस्तित्व में आए।^९ 'आवश्यक' नाम **भगवती**^{१०}, **स्थानांग**^९ तथा **ज्ञाताधर्मकथा**^{१०} में भी सम्प्राप्त होता है। चूँकि उक्त सभी ग्रन्थ महावीर द्वारा उपदिष्ट तथा गणधरों द्वारा ग्रथित द्वादशांगी के अंग हैं, अतः इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि **आवश्यकसूत्र** की रचना महावीर के समय में ही हुई है। यदि इसके सर्वाधिक प्राचीनतम व्याख्या साहित्य को आधार बनाया जाए तो भी इसकी रचना का समय महावीर के काल अथवा उसके आस-पास ही ज्ञात होता है। **आवश्यकसूत्र** की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या साहित्य **आवश्यकनिर्युक्ति** है और जिसके कर्ता आचार्य भद्रबाहु हैं। इनका समय वि०सं० ५०० से वि०सं० ६०० के मध्य में है, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि **आवश्यकसूत्र** की रचना इससे और भी पूर्व में हुई है। अर्थात् **आवश्यकसूत्र** की रचना महावीर के काल में अथवा उनके कुछ पश्चात् हुई है।

आवश्यकसूत्र के छः अध्ययन हैं - सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। सामायिक **आवश्यकसूत्र** का प्रथम अध्ययन है। जैन आचार में श्रमण के पाँच चरित्र, तो गृहस्थ साधकों के चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत-सामायिक नैतिक साधना का अर्थ और इति दोनों हैं। वस्तुतः सामायिक समत्व-साधना है। समत्व-साधना में साधक जहाँ बाह्य रूप में हिंसक प्रवृत्तियों का परित्याग करता है, वहीं आन्तरिक रूप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव एवं सुख-दुःख, लाभ-हानि प्रभृति में समभाव रखता है। लेकिन इन दोनों से भी ऊपर वह अपने विशुद्ध रूप में आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न है। जैन विचारणा में 'सम' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ और अयन का अर्थ आचरण स्वीकार किया गया है। इस तरह से श्रेष्ठ आचरण ही सामायिक है। मन, वचन व काय की दुष्ट वृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है।

जैन धर्म में सामायिक का प्रभूत महात्म्य है। यह आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर महावीर तक सभी के द्वारा उपदेशित हुआ है। महावीर के पूर्व के तीर्थंकरों ने इसका उपदेश सामायिक संयम के रूप दिया था तथा केवल अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करना आवश्यक बतलाया था। भगवान् पार्श्वनाथ ने तीर्थंकर ऋषभदेव की सर्वस्व-त्याग रूप आकिञ्चन मुनिवृत्ति, नमि की निरीहता वा नेमिनाथ की अहिंसा को आधार बनाकर जिस चातुर्याम धर्म का निरूपण किया, वही जैन परम्परा में सामायिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। **आचारांग** में निरूपित है - महावीर ने भी प्रव्रजित होने पर सर्वप्रथम पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिष्ठित चातुर्याम रूप सामायिक धर्म को ग्रहण किया।^{११} तत्पश्चात् केवलज्ञानी होने पर छेदोस्थापना संयम का विधान किया।^{१२} मोहन लाल मेहता द्वारा रचित, **जैन साहित्य का बृहद इतिहास** भाग-३ के अन्तर्गत **आवश्यकनिर्युक्ति** में अन्याय विषयों के साथ भगवान् ऋषभदेव का चरित्र भी निरूपित हुआ है। यहाँ पर सामायिक अध्ययन की विवेचना में निर्युक्तिकार बतलाते हैं कि सामायिक के निर्गमद्वार की चर्चा के समय भगवान् महावीर के पूर्व भव की चर्चा का प्रसंग आता है, जिसमें कि उनके मरीचि जन्म की चर्चा आवश्यक रूप से की गई है।^{१३} इसी प्रसंग में भगवान् ऋषभदेव की भी चर्चा हुई है, क्योंकि मरीचि की उत्पत्ति ऋषभदेव से है।^{१४} यदि उक्त तथ्यों पर दृष्टिपात करें तो यह निष्कर्ष निःसृत होता है कि सामायिक महावीर के शासनकाल में था और साथ ही आदि तीर्थंकर ऋषभदेव व उनके पश्चात्पूर्वी तीर्थंकरों के शासनकाल में भी था। अर्थात् सामायिक जैनधर्म के उद्भव काल से ही आस्तित्ववान है।

आवश्यकसूत्र का द्वितीय अध्ययन 'चतुर्विंशतिस्तव' है। इसमें साधक सावध योग से निवृत्त होकर अवलम्बन स्वरूप चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करता है। इससे

साधक की आध्यात्मिक शक्ति विकसित होती है, उसकी साधना का मार्ग सुगम होता है और वह संयम क्षेत्र में दृढ़तर होता चला जाता है। 'चतुर्विंशतिस्तव' से दर्शन की वृद्धि होती है, श्रद्धा परिमार्जित होती है और सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपसर्ग व परीषहों की सहन करने की शक्ति विकसित होती है व तीर्थकर बनने की प्रेरणा मन में उठती होती है। जैन विचारणानुसार साधना के आदर्श तीर्थकर या सिद्ध पुरुष किसी उपलब्धि की अपेक्षा को पूरा नहीं करते हैं, प्रत्युत वे मात्र साधना के आदर्श हैं, जिसका अनुसरण कर साधक आत्मोत्कर्ष तक पहुँच सकता है। अर्थात् स्तवन का मूल्य आदर्श को उपलब्ध कराने वाले महापुरुषों की जीवन गाथा के स्मरण द्वारा साधना के क्षेत्र में प्रेरणा प्रदान करना है।

आवश्यकसूत्र का तृतीय अध्ययन वंदन है। जैन-धर्म में साधना के आदर्श रूप में तीर्थकरों की उपासना के पश्चात् साधना मार्ग के पथ-प्रदर्शक गुरु के विनय का विधान अभिहित है। जैन-धर्म की दृष्टि से साधक में द्रव्य-चारित्र और भाव-चारित्र दोनों ही आवश्यक हैं। गुरु को ऐसा होना चाहिए कि जिसका द्रव्य और भाव दोनों ही चारित्र निर्मल हो, व्यवहार और निश्चय दोनों ही दृष्टियों से जिसके जीवन में पूर्णता हो, वही सद्गुरु वन्दनीय और अभिनन्दनीय है। साधक को ऐसे ही सद्गुरु से पवित्र प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। वन्दन में ऐसे ही सद्गुरु को नमन करने का विधान है। वंदन के फलस्वरूप गुरुजनों से सत्संग का लाभ होता है। सत्संग से शास्त्र-श्रवण, शास्त्र-श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम-अनास्रव, तप, कर्मनाशद्र अक्रिया एवं अन्त में सिद्धि की उपलब्धि होती है। वंदन यथार्थ रूप में सम्पन्न हो, इसके लिए आवश्यक है कि वंदन के समय साधक के अन्तर्मानस में किसी भी प्रकार की स्वार्थ भावना/आकांक्षा/भय अथवा अन्य किसी प्रकार के अनादर की भावना विद्यमान नहीं रहनी चाहिए। जिनको वन्दन किया जाय उनको समुचित सम्मान प्रदान करें। उस समय साधक के मन, वचन और काय में एकरसता होनी चाहिए।

आवश्यकसूत्र का चतुर्थ अध्ययन प्रतिक्रमण है। इसमें उस साधना का विधान अभिहित है जिसमें साधक अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर मर्यादा विहीन अवस्था में अथवा स्वभाव-दशा से च्युत होकर विभावदशा में प्रवेश कर जाता है, तब उसका पुनः स्वभाव रूपी सीमा में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन व काय से सम्पन्न हुए हों, दूसरे से करवाये गए हों और दूसरों के द्वारा किए गए पापों को अनुमोदित किया गया हो - की निवृत्ति हेतु किए गए समस्त पापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है। **योगशास्त्र** में निर्दिष्ट है - शुभ योगों में से अशुभ योगों में गए हुए अपने आप को पुनः शुभ योगों में लौटा लाना 'प्रतिक्रमण' है।^{१५} 'प्रतिक्रमण'

केवल अतीतकाल में लगे दोषों की परिशुद्धि नहीं करता, प्रत्युत वह वर्तमान तथा भविष्य के दोषों की भी परिशुद्धि करता है।^{१६} जैनविचारणानुसार इसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। **आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति, आवश्यक-मलयगिरिवृत्ति** प्रभृति ग्रन्थों में प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन सम्प्राप्त होता है। मूलाचार में निर्दिष्ट है - भगवान् महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया तथा केवल अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करना आवश्यक बतलाया था। लेकिन भगवान् महावीर ने सामायिक धर्म के स्थान पर छेदोपस्थापना संयम निर्धारित किया और प्रतिक्रमण नियम से करने का उपदेश दिया।^{१७} ऐसा ही निरूपण **भगवती, उत्तराध्ययन** प्रभृति आगमों में तथा **तत्त्वार्थसूत्र** (९, १८) की सिद्धसेनीय टीका में प्राप्त होता है।^{१८}

आवश्यकसूत्र में प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग आवश्यक का विधान अभिहित है। कायोत्सर्ग का शब्दिक अर्थ है काय का त्याग। यहाँ पर काय-त्याग से तात्पर्य है शारीरिक चंचलता एवं देहाशक्ति का त्याग। कायोत्सर्ग में गहराई से चिन्तन कर उन दोषों को क्षय करने का उपक्रम किया जाता है, जो प्रतिक्रमण में शेष रह जाते हैं। इसमें साधक बहिर्मुखी स्थिति से निकलकर अन्तर्मुखी स्थिति में पहुँचता है। इसका प्रधान उद्देश्य है - आत्मा का सानिध्य प्राप्त करना और सहज गुण है मानसिक संतुलन को बनाए रखना। इसका भी इतिहास प्राचीन है, लेकिन क्या यह महावीर के पूर्व अस्तित्ववान था? और था तो कब था? इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। यहाँ पर यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह महावीर के काल में था, क्योंकि **आचारांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन, आवश्यकसूत्र** प्रभृति आगमसाहित्य व **मूलाराधना, कायोत्सर्गशतक** आदि में इसका निरूपण है।

आवश्यकसूत्र का छठा व अन्तिम अध्ययन प्रत्याख्यान आवश्यक है। प्रत्याख्यान का अर्थ है - त्याग करना। अर्थात् मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है। यद्यपि सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण तथा कायोत्सर्ग द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है, तथापि अन्तर्मानस में आसक्ति के प्रवेश का भय उपस्थित रहता है। एतदर्थ **आवश्यकसूत्र** में प्रत्याख्यान का विधान अभिहित है। आचार्य भद्रबाहु^{१९} ने कहा है- प्रत्याख्यान से संयम होता है। संयम से आस्रव का निरुन्धन होता है और आस्रव के निरुन्धन से तृष्णा का क्षय हो जाता है। तृष्णा के क्षय से उपशम भाव समुत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध होता है।^{२०} उपशम भाव की विशुद्धि से चारित्र धर्म प्रकट होता है। चारित्र से कर्म निजीर्ण होते हैं जिससे केवलज्ञान, केवल दर्शन का दिव्यालोक देदीप्यमान होने लगता है और शाश्वत मुक्ति रूपी सुख प्राप्त होता है।^{२१}

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में श्रमणों हेतु पूर्वोक्त वर्णित षडावश्यक का विधान अभिहित है। दोनों ही परम्पराओं में अन्तर केवल उनके क्रम को लेकर है। दिगम्बर परम्परानुसार इनका क्रम इस प्रकार है - सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। जबकि श्वेताम्बर परम्परानुसार इनका क्रम इस तरह है - सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। जैन परम्परा में केवल श्रमणों हेतु ही षडावश्यक का विधान अभिहित नहीं हुआ है, प्रत्युत श्रावकों हेतु भी इसका विधान है और जिसे षट्कर्म की संज्ञा है। श्रावकों के आवश्यक षट्कर्म इस प्रकार हैं - १. देवपूजा (तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का पूजन अथवा उनके आदर्श स्वरूप का चिन्तन एवं गुणगान), २. गुरु-सेवा श्रावक का द्वितीय कर्तव्य है (गुरु की सेवा करना, भक्तिपूर्वक उनका वंदन करना, उनका सम्मान करना और उनके उपदेशों का श्रवण करना), ३. स्वाध्याय (आत्मस्वरूप का चिन्तन और मनन और साथ ही आत्मस्वरूप का निर्वचन करने वाले आगमग्रन्थों का पठन-पाठन), ४. संयम (श्रावक द्वारा अपनी वासनाओं और तृष्णाओं पर संयम रखना), ५. तप (श्रावक को यथासंभव अनशन, रस-परित्याग प्रभृति के रूप में प्रतिदिन तप करना चाहिए) और ६. दान (प्रत्येक श्रावक को प्रतिदिन श्रमण, स्वधर्मी बन्धुओं और असहाय एवं दुःखीजनों को कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिए)^{२२}

आवश्यकसूत्र ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिस पर सर्वाधिक व्याख्या साहित्य उपलब्ध है। इसके मुख्य व्याख्या साहित्य निम्नवत् हैं - निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, स्तवक (टब्बा) और हिन्दी विवेचन। **आवश्यकसूत्र** की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या आचार्य भद्रबाहुकृत प्राकृत में निर्युक्ति के रूप में प्राप्त होती है। इसमें ८८० गाथाएँ हैं। इसमें सर्वप्रथम भूमिका के रूप में उपादघात है। प्रथम पाँच प्रकार के ज्ञान के विवेचन के पश्चात् षडावश्यक का प्रतिपादन हुआ है। षडावश्यक में सर्वप्रथम सामायिक की विवेचना हुई है। उन्होंने इस पर नय दृष्टि से चिन्तन करने के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव का नाम प्रभृति छः निक्षेपों से निरूपण किया है। तत्पश्चात् वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान का निरूपण है। **आवश्यकनिर्युक्ति** के अन्तर्गत श्रमण जीवन को तेजस्वी-वर्चस्वी बनाने हेतु जो भी नियमोपनियम हैं, उनका विस्तृत रूप में विवेचन हुआ है। साथ ही इसमें प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का विवेचन समाविष्ट है। प्राकृत में ग्रथित **आवश्यकनिर्युक्ति** की व्याख्या शैली अत्यन्त ही गूढ़ और संक्षिप्त होने से इसके गंभीरतम रहस्यों के प्रकटन हेतु विस्तार से प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएँ रची गयीं, वस्तुतः वही **विशेषावश्यकभाष्य** की संज्ञा से सुप्रसिद्ध है। **आवश्यकसूत्र** के भाष्यकार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि०सं० ६५० के आस-पास) हैं। इन्होंने **आवश्यकसूत्र** पर पूर्व में संक्षेप में लिखित मूलभाष्य व भाष्य की अधिकतर गाथाओं

का समावेश **विशेषावश्यक** में किया है। इसमें कुल ३६०३ गाथाएं हैं। वस्तुतः यह भाष्य केवल प्रथम अध्ययन 'सामायिक' पर है। प्रस्तुत भाष्य में जैनागम साहित्य में वर्णित समस्त ज्ञानवाद, प्रमाणवाद, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद पर विस्तृत चिन्तन हुआ है। निर्युक्ति व भाष्य की रचना के पश्चात् जैन मनीषियों ने शुद्ध प्राकृत और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में जिन गद्यात्मक व्याख्याओं की रचना की, वस्तुतः वही चूर्णि साहित्य के रूप में विश्रुत है। **आवश्यकचूर्णि** के कर्ता जिनदासगणि महत्तर (वि०सं० ६५०-७५०) हैं। **आवश्यकचूर्णि**, **आवश्यकनिर्युक्ति** के अनुरूप रचित है, तथापि भाष्य गाथाओं का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। यद्यपि इसकी प्रवाहमय भाषा मुख्यतः प्राकृत है। इसमें ऐतिहासिक कथाओं की प्रचुरता है। निहनवों के निरूपण के पश्चात् द्रव्य, पर्याय और नय-दृष्टि से सामायिक का प्रतिपादन हुआ है। चतुर्विंशतिस्तव में लोक, उद्योत, धर्म-तीर्थकर प्रभृति विषयों पर निक्षेप-पद्धति से चिन्तन हुआ है। वंदन अध्ययन में वंदन के योग्य श्रमण के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजा व विनयकर्म को दृष्टान्तों के माध्यम से व्याख्यापित किया गया है। प्रतिक्रमण अध्ययन को प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण एवं प्रतिक्रान्तव्य इन तीन दृष्टियों से परिभाषित किया गया है। तत्पश्चात् कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान का निरूपण हुआ है। इसमें विभिन्न पौराणिक व ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन उत्कीर्ण हैं, जिनका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व है।

मूलागम, निर्युक्ति और भाष्य साहित्य प्राकृत में रचित हैं, जबकि चूर्णि साहित्य में प्रधानरूप से प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ है और साथ ही गौण रूप से संस्कृत भाषा का भी। निर्युक्ति में आगमों के शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या विवेचित है, जबकि भाष्य साहित्य में विस्तार से आगमों के शब्दों की व्युत्पत्ति का विवेचन हुआ है और चूर्णि साहित्य में निगूढ़ भावों को लोक-कथाओं के माध्यम से समझाया गया है। तत्पश्चात् संस्कृत भाषा में टीका साहित्य के अन्तर्गत आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण हुआ है। टीकाकार ने प्राचीन निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य का अपनी टीका में प्रयोग किया है। इसके अन्तर्गत सामाजिक, राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का सम्यक् रूपेण विवेचन हुआ है। टीकाकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने **विशेषावश्यकभाष्य** पर स्वोपज्ञवृत्ति रची, लेकिन इसे अपने जीवन में पूर्ण नहीं कर सके। प्रस्तुत टीका उनके पश्चात् कोट्याचार्य (८वीं शती) ने पूर्ण की। संस्कृत टीकाकार आचार्य हरिभद्र (वि०सं० ७७५ से ८२७) ने निर्युक्ति के अनुसार सामायिक प्रभृति की तेइस द्वारों से विवेचना की है। वस्तुतः निर्युक्ति व चूर्णि में निहित जिन-जिन विषयों का संक्षेप में निरूपण है उन्हीं का शिष्यहिता नामक वृत्ति में विस्तार है। इसका ग्रन्थमान २२००० श्लोक प्रमाण है। कोट्याचार्य ने आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अपूर्ण स्वोपज्ञभाष्य को पूर्ण किया

और साथ ही **विशेषावश्यकभाष्य** पर एक नवीन वृत्ति की रचना की, तथापि उस वृत्ति में आचार्य हरिभद्र का नामोल्लेख नहीं किया। **विशेषावश्यकभाष्य** पर कोट्याचार्य प्रणीत विवरण न तो अति संक्षिप्त है और न ही अति विस्तृत। १३७०० श्लोक प्रमाण वाले विवरण में निरूपित कथाएं प्राकृत भाषा में हैं। १२वीं शताब्दी में मलयगिरि ने **आवश्यकसूत्र** पर **आवश्यकविवरण** नामक वृत्ति की रचना की है। अपूर्ण रूप में प्राप्त यह विवरण मूलसूत्र पर न होकर **आवश्यकनिर्युक्ति** पर है। प्रस्तुत विवरण में समाविष्ट विवेचना की विशिष्टता यही है - आचार्य ने **विशेषावश्यकभाष्य** की गाथाओं पर स्वतन्त्र विवेचन करके उनके सार को ही अपनी वृत्ति में उल्लिखित किया है। उन्होंने वृत्ति में विशेषावश्यक चूर्णिकार, आवश्यक मूल टीकाकार, आवश्यक मूल भाष्यकार, लघीयस्त्रयालंकार, अकलंकन्यायावतारवृत्तिकार प्रभृति का उल्लेख भी समाविष्ट किया है। वर्तमान में उपलब्ध १८०० श्लोक प्रमाण से सम्पन्न विवरण में 'चतुर्विंशतिस्तव' नामक द्वितीय अध्ययन तक का ही विवेचन समाविष्ट है और वह भी अपूर्ण रूप में। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने हरिभद्र की वृत्ति पर **आवश्यकवृत्ति प्रदेशव्याख्या** रची है, इनकी **विशेषावश्यकभाष्य** पर दूसरी वृत्ति शिष्यहिता है। इसमें उन्होंने भाष्य के समस्त विषयों को अत्यन्त सरल व सुगम दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त जिनभद्र, माणिक्यशेखर, कुलप्रभ, राजवल्लभ प्रभृति जैन मनीषियों ने **आवश्यकसूत्र** पर वृत्तियों की रचना की। इनके अतिरिक्त विक्रम संवत् ११७२ में नमि साधु ने, संवत् १२२२ में श्री चन्द्रसूरि ने, संवत् १४४० में श्री ज्ञान सागर ने, संवत् १५०० में धीरसुन्दर ने, संवत् १५४० में शुभवर्द्धनगणि ने और संवत् १६९७ में हितरुचि ने **आवश्यकसूत्र** पर वृत्ति की रचना की। टीका युग की समाप्ति के पश्चात् जन साधारण हेतु आगमों का शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाओं की रचना हुई जो स्तवक व टब्बा की संज्ञा से विश्रुत हैं। १८वीं शदी में मुनि धर्मसिंह ने **आवश्यक** पर टब्बा की रचना की। तत्पश्चात् अनुवाद युग में **आवश्यकसूत्र** का अनुवाद हिन्दी और गुजराती में हुआ।

प्रकाशन युग में **आवश्यकसूत्र** का सर्वप्रथम प्रकाशन गुजराती अनुवाद सहित सन् १९०६ में भीमसी माणेक, बम्बई से हुआ। सन् १९१६-१७ में **आवश्यक भद्रबाहु निर्युक्ति हरिभद्रीया वृत्ति** के साथ आगमोदय समिति, बम्बई से प्रकाशित हुआ। आवश्यकसूत्र मलधारी हेमचन्द्र विरचित **प्रदेश व्याख्या** के साथ सन् १९२० में देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई से प्रकाशित हुआ। सन् १९२३ में **विशेषावश्यक गाथानामाकारादिक्रम** तथा **विशेषावश्यकविषयानुक्रम** आगमोदय समिति, बम्बई से प्रकाशित हुआ। **आवश्यकसूत्र** का गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशन सन् १९२४-२७ तक आगमोदय समिति बम्बई से हुआ। सन् १९२८ में **आवश्यकसूत्र**

भद्रबाहुनिर्युक्ति एवं मलयगिरिवृत्ति के साथ आगमोदय समिति, बम्बई से प्रकाशित हुआ, सन् १९३२ में द्वितीय भाग तथा सन् १९३६ में तृतीय भाग के साथ **आवश्यकसूत्र भद्रबाहुनिर्युक्ति** एवं मलयगिरिवृत्ति देवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत से प्रकाशित हुआ। सन् १९३६ में **आवश्यक नमिसार वृत्ति** विजयदानसूरीश्वर ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित हुआ। सन् १९३९ में एवं १९४१ में भद्रबाहुकृत **आवश्यकनिर्युक्ति** की माणिक्य शेखरकृत दीपिका विजयदानसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत से प्रकाशित हुई। सन् १९५४ में फूलचन्दजी ने **आवश्यकसूत्र** का मूलपाठ गुडगांव छावनी से सुत्तागमें के अन्तर्गत करवाया। सन् १९५८ में पूज्य घासीलाल जी महाराज कृत **आवश्यकसूत्र** का संस्कृत व्याख्या, हिन्दी व गुजराती अनुवाद सहित जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट ने प्रकाशित किया। सन् १९६६ में **विशेषावश्यकभाष्य** स्वोपज्ञवृत्ति सहित लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर से तीन भागों में प्रकाशित हुआ। सन् १९६६ में ही **विशेषावश्यकभाष्य** विवरण (कोट्याचार्य कृत) का प्रकाशन ऋषभदेवजी केसरीमल जी प्रचारक संस्था, रतलाम से प्रकाशित हुआ। **आवश्यकसूत्र** का सन् १९७७ में आगम प्रभावक मुनि पुण्य विजयजी महाराज जैनागम ग्रन्थमाला के अन्तर्गत '**दसवेयालियसुत्तं उत्तरज्ज्ञयणाइं आवस्सयसुत्तं**' नामक शीर्षक से श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ। सन् १९८४ में **आवश्यकसूत्र** का मूलपाठ सैलाना से '**अंग पविट्ट सुत्तणि**' में प्रकाशित हुआ। सन् १९८५ में भी **आवश्यकसूत्र** का मूलपाठ हिन्दी विवेचन सहित श्री आगम प्रकाशन-समिति व्यावर, राजस्थान से प्रकाशित हुआ।

आवश्यकसूत्र के समग्र पक्षों का गहन अवलोकन करने पर यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इसका जैनागम साहित्य एवं मानव जीवन के सर्वांगीण विकासार्थ तीर्थकरों द्वारा प्ररूपित साधना-पद्धति में प्रभूत महात्म्य है। ज्ञातव्य समस्त परम्पराओं में आचार व इसके अन्तर्गत जिन मूल्यों की प्रस्थापना हुई है, उनका एक मात्र उद्देश्य उस जीवन-प्रणाली का प्रगटन करना रहा है, जिससे नैतिक जीवन के लक्ष्य की सम्प्राप्ति हो सके, जिसके द्वारा एक ऐसा मानव समाज सृजित हो जो अनेकविध संघर्षों, यथा-आन्तरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष, आन्तरिक इच्छाओं और उनकी पूर्ति को बाह्य प्रयासों का संघर्ष तथा बाह्य समाजगत एवं राष्ट्रगत संघर्ष - से मुक्त हो। यद्यपि उक्त संघर्ष मानव द्वारा प्रसूत नहीं होते, तथापि उसे प्रभावित करते हैं। वस्तुतः 'समत्व' ही जीवन का आदर्श/सार है और जब मानव जीवन में समग्र विषमताओं/संघर्षों के उत्स राग-द्वेष का प्रादुर्भाव होता है तो यह समत्व अपने स्वभाविक केन्द्र से विचलित हो जाता है। परिणास्वरूप मनुष्य अपनी स्वभावदशा का परित्याग कर विभावदशा को प्राप्त होता है। वस्तुतः साधना विभावावस्था से स्वभावावस्था की ओर गमन करना है। अर्थात् बाह्य दृष्टि का परित्याग

कर अंतर्दृष्टि में प्रतिष्ठित होना है। यहाँ पर स्वाभाविक जिज्ञासा समुत्पन्न होती है कि वह साधना-पद्धति क्या है? उसका स्वरूप क्या है? प्रस्तुत जिज्ञासा के निवारणार्थ **आवश्यकसूत्र** में निरूपित साधना-पद्धति सामने प्रस्तुत होती है। **आवश्यकसूत्र** के छः अंगों-सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का क्रम व इसमें अन्तर्निहित साधना-विधि का निरूपण वैज्ञानिक पद्धति से हुआ है, जिस पर गमन कर साधक अपने साध्य (समत्व) को सरल रूप से प्राप्त कर सकता है। साथ ही इसमें ऐहिक मूल्यों के साथ-साथ आध्यात्मिक मूल्यों - एकता, अहिंसा, समभाव, नम्रता, प्रभृति सदगुणों - का निरूपण हुआ है, जिसका अनुगमन कर मानव अपने समस्त संघर्षों से निवृत्ति पा सकता है। साधक के अन्तर्मानस में समत्व रूपी आदर्श देदीप्यमान होने पर समभाव, अहिंसा, विनय प्रभृति सदगुणों की सरिता का स्वतः प्रवाहन होने लगता है। समत्वद्रष्टा सभी प्राणियों को स्वयं में और स्वयं को सभी में देखता है। उसकी जीवन दृष्टि 'जीओ और जीने दो' की होती है और उसी का वह पालन करता है। एतदर्थ जैन-धर्म में **आवश्यकसूत्र** के पाठ को चतुर्विध संघ हेतु अनिवार्य रूप से समाचरणीय बनाया गया है।

आवश्यकसूत्र की प्राचीनता, प्रामाणिकता, इसके गुण विषयों को और अधिक सरल व सरस रूप से जनमानस के समक्ष प्रकटन हेतु कालांतर में विभिन्न जैनाचार्यों ने प्राकृत, संस्कृत व प्राकृत-संस्कृत मिश्रित अनेक व्याख्या साहित्यों, यथा - निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि का प्रणयन किया है जिससे इसकी महत्ता स्वतः प्रकट हो जाती है। इन व्याख्या साहित्यों में विविध पक्षों, यथा - दार्शनिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक, भौगोलिक, ज्योतिष, आर्थिक प्रभृति - का सम्यक रूप से यथार्थ व सजीव निरूपण हुआ है। अन्यान्य जैन ग्रन्थों में **आवश्यकसूत्र** के अध्ययनों का प्राप्त होना इसकी प्राचीनता व प्रामाणिकता को प्रकट करता है। आधुनिक युग में अन्यान्य प्रकाशनों द्वारा **आवश्यकसूत्र** व इसके व्याख्या साहित्यों का प्रकाशन, अनेकानेक जैन विद्वजनों द्वारा विभिन्न भाषाओं में अनुवाद और व्याख्या करना इसके महत्त्व को प्रकट करता है।

उक्त समस्त विवेच्य विषयों का पुनरावलोकन करने से यह निष्कर्ष निःसृत होता है कि जैनागमों में **आवश्यकसूत्र** को इसकी सामग्री - वैविध्य के कारण विशिष्ट स्थान प्राप्त है। **आवश्यकसूत्र** में प्रतिपादित षडावश्यक समसामयिक रूप से पूर्णतः प्रासंगिक है।

सन्दर्भ :

१. अनुयोगद्वार चूर्णि, पृ० १४.
२. अनुयोगद्वार मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका, पृ० २८.

३६ : श्रमण, वर्ष ५६, अंक ७-९/जुलाई-सितम्बर २००४

३. अनुयोगद्वार २८, गाथा २.

४. बृहत्कल्पभाष्य, ३११.

५. विशेषावश्यकभाष्य १३६८.

६. स्थानांगवृत्ति, पृ० ४९.

७. नवसुत्ताणि, भूमिका, पृ० ४८-४९.

८. भगवतीसूत्र, १८/२०७.

९. स्थानांगसूत्र, २/०५.

१०. ज्ञाताधर्मकथा, १/८/१८/२.

११-१२. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० २१.

१३. मोहनलाल मेहता, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग - ३ पृ० ७६.

१४. वही, पृ० ७७.

१५. आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, स्वोपज्ञवृत्ति।

१६. महासती सुप्रभा सुधा द्वारा सम्पादित आवश्यकसूत्र का एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ३३.

१७. मूलाचार, ७, ३६-३८.

१८. हीरालाल जैन, पूर्वोक्त, पृ० २१.

१९. आवश्यकनिर्युक्ति, १५९४.

२०. वही, १५९५.

२१. वही, १५९६.

२२. सागरमल जैन, जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग - २, पृ० ३१६.



प्राकृत साहित्य का कथात्मक महत्त्व

डॉ० हुकमचन्द जैन*

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रह कर ही वह सब कुछ सीखता है। आज के भौतिक युग में समाज में कई बुराईयां प्रचलित हैं। जुआ, चोरी, मद्य, मांस सेवन, शिकार, असत्य, हिंसा, अपरिग्रह, लोभ आदि बुराइयों से समाज विकृत हो गया है। परिणामस्वरूप मनुष्य में मानवीय प्रवृत्तियों के स्थान पर दानवीय प्रवृत्तियां जन्म लेने लगी हैं। लाभ और लोभ ने तो मानव को बारूद के ढेर पर खड़ा कर दिया है, जो कभी भी विस्फोट कर सकती है। अतः आज मानव समाज एवं देश का रक्षक नहीं भक्षक हो गया है। उसे अपने स्वार्थ के अलावा कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता। जब उसका मन अर्थ परिग्रह से ग्रसित होता है, तब वह उचित-अनुचित किसी भी तरह से धन संग्रह करता है, अनावश्यक प्रतियोगी बन जाता है। ऐसी स्थिति में जीवन मूल्य एवं मानवीय गुण मानव से लाखों कोस दूर भटकने लगते हैं। यही दशा आज है। इन जीवन मूल्यों एवं मानवीय गुणों को स्थापित करने के लिये या जीवन में आत्मसात् करने के लिये तीर्थंकरों ने अपने उपदेशों से जीवन मूल्यों एवं मानवीय गुणों को कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

प्राकृत साहित्य में ये कथायें आगम, टीकाओं, चूर्णियों एवं स्वतंत्र कथा ग्रंथों में मिलती हैं। इन कथाओं के माध्यम से ही जीवदया, करुणा, अहिंसा, अपरिग्रह, दान, शील, तप, भावना, ब्रह्मचर्य, सत्य, संयम, शरणागतवात्सल्य, प्रेम, सौहार्द्र, सह-अस्तित्व आदि आदर्शों को जनसामान्य के हृदय में उतारने का प्रयास किया गया है।

जीव-रक्षा का लिये व्रतों के पालन करने के लिये कहा गया है। आगम ग्रंथों में **ज्ञाताधर्मकथा** में मेघ कुमार के पूर्वभव के रूप में मेरुप्रभ हाथी की कथा आयी है जो अपने पांव के खुजलाने के लिये ऊपर उठाता है। उस स्थान पर कई छोटे-छोटे जीव आश्रय ले लेते हैं। वह जीव रक्षा की भावना के कारण स्वयं अपने प्राण त्याग देता है।^१ ऐसी ही कथा **आख्यानकमणिकोश** तथा अहिंसा के महत्त्व रूप में **कथारत्नकोश** में यज्ञदत्त की कथा में आयी है।^२

ज्ञाताधर्मकथा में एक कौलिक कसाई की कथा आती है, जो हमेशा पाड़ा मारा करता है। अत्यंत पाप करने के कारण राजा उसे सूखे कुएं में धकेल देता है,

* सह आचार्य एवं अध्यक्ष, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, (राज०)

फिर भी वह कुएं में अपने पसीने के मल से पाड़ा बनाकर मारता रहता है। हिंसा की दुर्भावना के कारण उसे कई योनियों में भटकना पड़ता है। ऐसी ही कथा अन्य ग्रंथों में भी कुछ हेर-फेर के साथ मिलती है। जीव रक्षा के रूप में बाज एवं कबूतर की कथा अहिंसा, जीवरक्षा शरणागतवात्सल्य का प्रतिनिधित्व करती है।^३ **रयणचूडरायचरियं** में भी एक कथा आई है जिसमें हाथी, हथिनी जंगल में आग लगने के कारण अन्य जंगल में चले जाते हैं तथा वे मरे नहीं।^४ अहिंसा के साथ-साथ **ज्ञाताधर्मकथा** में संयम के महत्त्व के रूप में शृंगाल एवं दो कछुओं की कथा है जिसमें संयम का महत्त्व बताया गया है।^५ प्राकृत कथा साहित्य के अन्तर्गत रत्नशेखर नृपकथा में बताया गया है कि पर्व के दिनों में अपनी पत्नी रत्नवती द्वारा संभोग की याचना करने पर भी उसको ठुकरा देता है, उसके फलस्वरूप उसे विजयश्री मिलती है।^६ **उत्तराध्ययनसूत्र** में शील एवं संयम के रूप में राजीमती की कथा प्रसिद्ध है जिसमें वह उपदेश देकर प्रतिबोधित करती है।^७ संयम एवं शील का अन्योन्य संबंध है। शील महात्म्य की कथायें आगमों से लेकर स्वतंत्र कथा ग्रंथों में मिलती हैं। **ज्ञाताधर्मकथा** के ८वें मल्ली अध्ययन में राजकुमारी मल्ली ने स्वर्ण प्रतिमा के मस्तक से ढक्कन हटाया तो एक सड़ांध गन्ध निकली और लोग भागने लगे। तब उसने कहा “मानव में कितने अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं फिर उनके पीछे इतना राग क्यों है।”^८ ऐसी ही कथा कुछ परिवर्तन के साथ **रयणचूडरायचरियं** में भी मिलती है। राजा के आसक्त होने पर उसको समझाने के लिये मदनसुंदरी अलग-अलग रंग के रेशमी वस्त्रों से ढककर विभिन्न व्यंजनों का भोजन रखकर एक ही स्वाद बताकर उपदेशित करती है कि स्त्रियां सभी एक जैसी होती हैं, केवल उनकी सुन्दरता बाह्य आवरण है।^९ प्राकृत साहित्य में **आख्यानकमणिकोश** में रोहिणी अध्ययन में रोहिणी की कथा आती है, जिसमें सेठ के विदेश चले जाने पर राजा द्वारा सेठाणी पर आसक्त होना, तोता एवं बिलाव द्वारा उपदेशित कर शील एवं संयम की रक्षा करना बताया गया है।^{१०} प्राकृत-कथा-संग्रह में भी जयलक्ष्मी देवी एवं सुंदरी देवी का कथानक शील महात्म्य का उदाहरण है।^{११} शील-रक्षा के रूप में प्रभावती एवं मदनविनोद की कथा है जिसमें सेठ के विदेश चले जाने पर प्रभावती पर-पुरुष में आसक्त हो जाती है। कामुक प्रभावती को सारिका ने रोक लिया एवं शुक ने तो उसे ७० कहानियां सुनाकर उसके शील की रक्षा की।^{१२} इसी प्रकार १६ सतियों के कथानक शील-रक्षा के अनुपम उदाहरण हैं। शील-संयम के साथ-साथ दान की भी अपनी महत्ता है।

ज्ञाताधर्मकथा में दान के रूप में द्रौपदी के पूर्व भव रूप में नामश्री की कथा है जिसमें कंजूसी के कारण साधुओं को वह कटुक तुम्बा का आहार दे देती है। जिसे वह साधु जमीन पर डालने के बजाय स्वयं खाकर अपने प्राणों की आहुति दे देता है किन्तु अन्य छोटे जीवों को बचाता है, नहीं तो कितने ही कीड़े-मकोड़े मर जाते।

इसमें जीव रक्षा एवं कृपणता के दुष्परिणाम बताये गये हैं जिससे कई योनियों तक भटकना पड़ता है।^{१३} यही कथा **आख्यानकमणिकोश** में आती है।^{१४} कृपणता के दुष्परिणाम एवं दान के महत्त्व के रूप में **रयणचूडरायचरियं** में नागश्री के पूर्व भव रूप में ईश्वरी सेठानी की कथा है जिसमें अत्यंत कृपणता एवं कटु वचन बोलने के कारण अनेक योनियों में भटककर अंत में साधु को भक्ति भाव से आहार दान के कारण नागश्री के रूप में जन्म लेती है।^{१५} **प्राकृतकथासंग्रह** में भी दान के महत्त्व के रूप में धनदेव-धनदत्त कथानक एवं जय राजर्षि की कथा और दान की कृपणता के लिये कृपण श्रेष्ठी के कथानक आये हैं।^{१६} आहार दान के बाद ज्ञान दान एवं अभय दान की महत्ता के रूप में क्रमशः धनदत्त एवं जयराजर्षि की कथा **कथारत्नकोश** में आती है।^{१७} दान के साथ तप का भी अपना महत्त्व है। तप दो प्रकार का होता है। बाह्य व आभ्यन्तर। किन्तु कथा भेद के रूप में न आकर केवल तप के महत्त्व के रूप में आती है। ये कथायें **ज्ञाताधर्मकथा**, **रयणचूडरायचरियं**, **आख्यानकमणिकोश**, **कथारत्नकोश** एवं **प्राकृतकथासंग्रह** में मिलती है। **प्राकृतकथासंग्रह** में मृगांक लेखा कथानक है।^{१८} भावना धर्म के रूप में **आख्यानकमणिकोश** में द्रमक, इलापुत्र और भरत का आख्यान है।^{१९} भावना का सबसे अधिक महत्त्व है। जैसी आपकी भावना होती है वैसे ही कर्म परिणति होती है। जैसे “जाकी रही भावना जैसी, प्रभु देखी तिन मूरत तैसी।” यही लेश्या है, यंही मनोविज्ञान है। भावना से ही मन शुद्ध-अशुद्ध होता है। उसी के अनुसार कर्मफल भोगना पड़ता है। **रयणचूड** में सूरानंदा के पूर्व भव के रूप में एक कबूतर एवं उसके रक्षा की कथा आती है। बाग में रति-कीड़ा करते समय उसे यह कह कर उड़ा दिया जाता है कि वह कभी नहीं मिले जिसके परिणामस्वरूप उसे कई योनियों में भटकना पड़ता है।^{२०} भावना का महत्त्व बताने के लिये **प्राकृतकथासंग्रह** में धर्मदत्त और बहुबुद्धि का कथानक है।^{२१} कर्मफल एवं भावना के रूप में **विपाकसूत्र** में मृगापुत्र के पूर्वभव की कथा वर्णित है जिसमें वह भ्रष्ट, जुआरी एवं व्यभिचारी था।^{२२} **रयणचूडकथा** में भी चकवा-चकवी को रंगीन कर दिया गया ताकि वे कभी नहीं मिल सकें।^{२३}

कषाय भी मानवीय गुण और जीवन मूल्यों को नष्ट करते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह ये कथायें **कुवल्यमालाकहा** में अत्यंत प्रभावशाली एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। इसमें कथाओं के विषय के आधार पर नाम रख कर बड़े प्रभावक ढंग से समझाया गया है। चण्डसोम, मानभट्ट, मायादित्य, लोकदेव और मोहदत्त के जन्मजन्मांतरों की कथायें हैं। ये पांचों नाम पांचों कथाओं के प्रतीक रूप में हैं।^{२४} लोभ के दृष्टांत **उत्तराध्ययन** में संकेत के रूप में मिलते हैं जैसे “जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो, पवड्डइ। दो मासं-कयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं।”^{२५} अर्थात् दो मासा सोना

चाहने वाला ब्राह्मण करोड़ों से लेकर राजपाट तक आ गया। इसलिये लोभ की कोई सीमा नहीं है। दुष्परिणाम के रूप में कौए और मृत हाथी की कथा भी आती है। लोभ के साथ-साथ मोह जीवनमूल्य एवं मानवीय गुणों को नष्ट करने वाला है। मोह से उसकी सोच एकान्तिक हो जाती है। वह एक ही के बारे में सोचता है। **ज्ञाताधर्मकथा** में मल्लिक की कथा एवं **कुवलयमाला** में वणिकसुन्दरी की कथा आती है जिसमें वह अपने चहेते पति के मृत्यु होने पर भी उसकी लाश को छः महीने कंधे पर लेकर घूमती रहती है। परिजनों द्वारा समझाने पर जब मोह शिथिल होता है तब उसका अंतिम संस्कार किया जाता है।^{२६} यही कथा पात्रों के हेर-फेर के साथ **पउमचरिउ** में भी आती है जिसमें राम लक्ष्मण का शव छः महीने तक लेकर घूमते रहते हैं। देवताओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से समझाने पर अंतिम संस्कार किया जाता है।^{२७} **रयणचूडरायचरियं** में शंख राजा एवं विष्णुश्री की कथा है, जिसमें शव में कीड़े लगने के बाद ही दाह संस्कार किया जाता है।^{२८} इन्द्रियजन्य विषय-वासना आदि भी जीवन मूल्यों का हास करने वाले हैं। ये वास्तव में किंपाक फल के समान हैं जो स्वाद में मधुर किन्तु प्राणनाशक होता है वैसे ही यह विषय-वासना एवं काम-भोग हैं। ऐसी प्रतीकात्मक मधु बिन्दु दृष्टांत **समराइच्चकहा**, **कुवलयमाला** आदि अनेक ग्रंथों में मिलते हैं, जिसके पीछे विषय-वासना को नियंत्रण एवं उसके दुष्परिणाम समझाये गये हैं।^{२९} **आख्यानकमणिकोश** में इन्द्रियवश कथानक में उपकोशा, भद्रा, नृपसुता, सुकुमारिका आख्यान आते हैं। जिनमें विषय-वासना के दुष्परिणाम समझाये गये हैं।^{३०} **कथारत्नकोश** में सुजम सेठ एवं उसके पुत्रों की कथा आई है।^{३१} कामवासनाओं के मूल में सात व्यसन हैं जैसे मद्य, मांस, जुआ, चोरी, शिकार, परस्त्रीगमन आदि। मांस-भक्षण के रूप में सोदाम नृप का कथनाक मिलता है जिसमें वह मांस-भक्षण हेतु मुनि को मारने के लिये भी तत्पर हो जाता है। किंतु अंत में राजा को ज्ञान होता है और वैराग्य की ओर अग्रसर हो जाता है।^{३२} **आख्यानकमणिकोश** में ही चोरी के रूप में नूपुर पंडित का आख्यान आता है जिसमें चोरी के दुष्परिणाम बताये गये हैं।^{३३} राग भी मोह को पैदा करने वाले होते हैं। **आख्यानकमणिकोश** में ही वणिकपत्नी आख्यानक में अन्य प्रेमी में आसक्ति के कारण अपने पति की हत्या कर देती है। मायादित्य कथानक भी राग के दुष्परिणाम को स्पष्ट करता है।^{३४}

इनके अलावा घमण्ड भी मानवी गुणों का हास करता है। घमण्ड के दुष्परिणाम के लिये बंदर और बया की एवं घमण्डी गीदड़ की कथा है जिसमें भयंकर दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं।^{३५} इन जीवन मूल्यों के अलावा प्रेम, सौहार्द, सह-अस्तित्व, परोपकार, लोक कल्याण आदि के भाव मिलते हैं। प्रेम की अतिशयता के रूप में शकुन-शकुनी की कथा आती है। शकुन-शकुनी जमदाग्नि ऋषि की दाढी में घोंसला बनाते हैं। ऋषि

के मरने के डर से एवं प्रेम की पराकाष्ठा के कारण एक दूसरे की सौगन्ध नहीं खाते हैं।^{३६} यही कथा **वसुदेवहिण्डी** में भी आती है।^{३७}

उपर्युक्त कथाओं के आधार पर प्राकृत साहित्य में दान, शील, तप-भावना, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि कषायों, जीवदया, ब्रह्मचर्य शरणागतवात्सल्य, मैत्री, सदाचार, प्रेम, जिनवन्दन, लोक-कल्याण आदि जीवन मूल्यों एवं मानवीय गुणों से ओत-प्रोत कथाओं का समावेश है। ये कथायें वास्तव में दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में सहायक हैं जो मानव समाज एवं देश के विकास में अत्यन्त उपयोगी हैं। ये कथायें अंगूर के गुच्छों के समान हैं जिन्हें बिना कुछ प्रयास करने पर भी आत्मसात् किया जा सकता है। इन्हें जीवन में आसानी से उतार कर प्राणी अपना कल्याण कर सकता है। आज के युग में प्रचलित दानवीय प्रवृत्तियाँ, अनेक अवगुणों, तनाव, लोभ, मोह आदि समस्याओं का समाधान इन कथाओं के माध्यम से किया जा सकता है। इन कथाओं में मानव से भी ज्यादा श्रेष्ठ पशु-पक्षी हैं, जो संयम, शील, अनुशासन, शरणागतवात्सल्य आदि गुणों से ओत-प्रोत हैं। मानव को भी उससे कुछ सीखना चाहिये तभी हमारा कल्याण संभव है।

सन्दर्भ :

१. (अ) **ज्ञाताधर्मकथा**, अध्ययन-४.

(ब) नेमिचंद्र शास्त्री, **हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन**, पृ० ८३.

२. शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ० ४९२.

३. हुकमचंद जैन, **रयणचूडरायचरियं का समालोचनात्मक अध्ययन**, पृ० ४८.

४. वही, पृ० ४३७.

५. वही, अनु० ५, पृ० ५४.

(ब) **जातक खण्ड-४**, 'शिवि जातक'

६. **ज्ञाताधर्मकथा**, कर्म अध्ययन

७. सुधा खाब्या, **रत्नशेखरीनृपकथा का समालोचनात्मक अध्ययन**, पृ० २३४.

८. **उत्तराध्ययनसूत्र**, अध्ययन-२२.

९. **दशवैकालिकनिर्युक्ति**, अध्याय-२, गाथा क्रमांक ८.

१०. हुकमचंद जैन, पूर्वोक्त, पृ० ३९.

११. (अ) आचार्य नेमिचंद्रसूरिकृत **आख्यानकमणिकोश**, रोहिण्याख्यानकम्, संपा० मुनि पुण्यविजय, वाराणसी १९६२ ई०, पृ० ६३-६४.

(ब) प्रेमसुमन जैन, **रोहिणी कथानक**, पृ० २९, गाथा, ६३ से ६८.

४२ : श्रमण, वर्ष ५६, अंक ७-९/जुलाई-सितम्बर २००४

१२. नेमिचन्द्र शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ० १००.
१३. जगदीशचंद्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४.
१४. ज्ञाताधर्मकथा, द्रौपदी के पूर्वभव।
१५. आख्यानकमणिकोश, नागश्रीब्राह्मण्याख्यानकम्, पृ० ४३ से ४६.
१६. हुकमचंद जैन, पूर्वोक्त, पृ० ५००-५०१.
१७. नेमिचंद्र शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ० १००.
१८. वही, पृ० ८२.
१९. वही, पृ० १००.
२०. आख्यानकमणिकोश, पृ० ८१.
२१. हुकमचंद जैन, पूर्वोक्त, पृ० ७०.
२२. नेमिचंद्र शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ० १००.
२३. मधुकर मुनि, विपाक सूत्र, पृ० ४५.
२४. नेमिचंद्र शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ० २७४.
- २५-२६. उत्तराध्ययन, ८/१७.
२७. कुवलमालाकहा, 'वणिक सुन्दरी की कथा', पृ० २२५.
२८. स्वयंभूकृत पउमचरिउ, भाग-५, ८८वीं संधि, १-१२.
२९. हुकमचंद जैन, पूर्वोक्त, पृ० ७०.
३०. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत कथा साहित्य, पृ० ५.
३१. आख्यानकमणिकोश, पृ० १८३ से १८७.
३२. नेमिचंद्र शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ० ८२.
३३. आख्यानकमणिकोश, पृ० १८८ से १८९.
३४. वही, पृ० २२२-२२३.
३५. (अ) आचार्य हेमचंद्र परिशिष्टपर्व, २५, पृ० ११८ से १२४.
(ब) कथासरित्सागर, खण्ड - ४.
३६. जगदीशचंद्र जैन, प्राकृत कथा साहित्य, पृ० ५.
३७. वसुदेवहिण्डी, पृ० २३५-३७.



संवेगरंगशाला में प्रतिपादित मरण के सत्रह प्रकार

साध्वी प्रियदिव्यांजनाश्री*

जैनधर्म में गृहस्थ उपासकों एवं श्रमण साधकों - दोनों के लिए समभाव पूर्वक मृत्यु-वरण का विधान है। मृत्यु-जीवन का एक अटल सत्य है। जिस तरह जीवन जीना एक कला है, उसी तरह मरण भी एक कला है। व्यक्ति मृत्यु से भयभीत होकर प्रतिपल बचने की कोशिश करता है, किन्तु अपरिहार्य बनी मृत्यु से भयभीत न होकर समभाव पूर्वक उसका स्वागत करना चाहिए। जब किसी भावावेश में आकर जीवन से निराश हो कर विषादि के प्रयोग से स्वयं को खत्म किया जाता है तब वह मृत्यु का स्वागत नहीं, आत्महत्या है।

आत्मा के जो निज गुण हैं, उनका विकास आत्म शोधन कहलाता है। आत्म शोधन का प्रथम सोपान है - जीवन शैली में सुधार। जीवन को निर्मल बनाना। जीवन में निर्मलता सदगुणों और सद्भावनाओं के विकास से उत्पन्न होती है। जीवन शैली के सम्यक् परिमार्जन से मरण भी शान्तिमय होता है। जिसका जीवन आदर्श होता है, उसका मरण भी आदर्श होता है।

भारतीय संस्कृति अतिथि को देव मानती है। इसलिए कहा गया है 'अतिथि देवो भव'। अतिथि वह है जिसके आने की कोई तिथि ज्ञात न हो। इस दृष्टि से सच्चा अतिथि तो मृत्यु है उसके आने की तिथि भले ही ज्ञात न हो किन्तु उसका आना तो निश्चित है। जीवन एक प्रवाह है। कहा गया है-

“है समय नदी की धार, जिसमें सब बह जाया करते हैं।

लेकिन कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो इतिहास बनाया करते हैं।”

किन्तु इतिहास बनाने से पहले मृत्यु के अटल सत्य को जानना जरूरी है। अतः जैन मनीषियों ने मरण के अनेक प्रकारों का विस्तार से विश्लेषण किया है किन्तु यहाँ केवल **संवेगरंगशाला** में प्रतिपादित मरण के सत्रह प्रकारों का वर्णन किया गया है।

संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि 'प्रथम' हैं। जिनचन्द्रसूरि ने अपनी कृति के प्रथम परिचय के ग्यारहवें प्रतिद्वार में मरणविभक्ति की चर्चा की है। जिसमें मरण के सत्रह प्रकारों का विवेचन किया है। **संवेगरंगशाला** के कर्ता जिनचन्द्रसूरि

* श्रीविचक्षण भवन, ७ शान्तिनाथ की गली, छोटा सराफा, उज्जैन (मध्य प्रदेश)

का कहना है कि जीवन में अन्तिम आराधना हेतु सर्व वस्तु का त्याग अनिवार्य है, किन्तु सर्वस्व का त्याग मृत्यु से ही सम्भव है, अतः मृत्यु सम्बन्धी चर्चा हेतु मैं मरणविभक्ति नामक उपद्वार को कहता हूँ।

मरण के निम्न सत्रह प्रकार हैं -

(१) आवीचिमरण (२) अवधिमरण (३) आत्यान्तिकमरण (४) बलायमरण (५) वशार्त्तमरण (६) अन्तःशल्यमरण (७) तद्भवमरण (८) बालमरण (९) पण्डितमरण (१०) बालपण्डितमरण (११) छद्मस्थमरण (१२) केवलीमरण (१३) वेहायसमरण (१४) गृद्धपृष्ठमरण (१५) भक्तपरिज्ञामरण (१६) इंगिनीमरण और (१७) पादपोगमनमरण।

(१) आवीचिमरण :- संवेगरंगशाला के अनुसार प्रतिसमय आयुष्य कर्म का क्षय होना ही आवीचिमरण है। वीचि अर्थात् जल की तरंग, जिस प्रकार जल में एक तरंग के पश्चात् दूसरी तरंग उठती है, उसी प्रकार आयुष्य कर्म के दलिक प्रतिसमय उदय में आकर नष्ट होते रहते हैं। आयुष्य कर्म के दलिकों का प्रतिसमय क्षय होना ही आवीचि मरण है। अतः प्रतिसमय होने वाला मरण ही आवीचिमरण है।

(२) अवधिमरण :- नरकादि गतियों में उत्पन्न होने के निमित्तभूत आयुष्यकर्म के दलिकों को भोगकर वर्तमान में मृत्यु को प्राप्त होता है पुनः उसी प्रकार के कर्म दलिकों को बान्धकर उनको भी उसी प्रकार भोगकर मरता है, ऐसे मरण को **संवेगरंगशाला** में अवधिमरण कहा गया है।

(३) आत्यान्तिकमरण :- जो जीव नरकादि भवों में जिन आयुष्य कर्म के दलिकों को भोगकर मरे और पुनः कभी भी उसी प्रकार के कर्म-दलिकों को न भोगे अर्थात् अनुभव नहीं करे, तो उसे आत्यान्तिक मरण कहते हैं।

(४) बलायमरण :- जो जीव संयम लेकर तीनों योग-मनोयोग, वचनयोग और काययोग से च्युत हो गया हो अर्थात् संयमी जीवन से पतित हो गया है, ऐसी स्थिति में जो मरता है, उसका मरण बलायमरण कहलाता है।

(५) वशार्त्तमरण :- **संवेगरंगशाला** में जिनचन्द्रसूरी ने मरण के पाँचवे प्रकार का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि जो जीव इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर मरण को प्राप्त होता है, उसे वशार्त्तमरण कहते हैं।

(६) अन्तःशल्यमरण :- प्रस्तुतकृति के अनुसार जो लज्जावश अथवा अभिमानवश अपने दुश्चरित्र को गुरु के समक्ष प्रकट नहीं करते हैं अथवा जो गाखरूप कीचड़ में फंसे हुए होने से अपने दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट नहीं करते हैं, वे

निश्चय से आराधक नहीं होते हैं। अन्त समय में उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्र शल्ययुक्त होने से उनका मरण अन्तःशल्यमरण कहलाता है।

(७) **तद्भवमरण** :- संवेगरंगशाला के अनुसार जो जीव अन्तस् में शल्य रखकर मरण को प्राप्त होता है, वह जीव महाभयंकर संसार अटवी में लम्बे समय तक परिभ्रमण करता है। तत्पश्चात् पुनः मनुष्य अथवा तिर्यच भव के योग्य आयुष्यकर्म को बांधकर मरने वाले मनुष्य एवं तिर्यच का मरण तद्भव मरण कहलाता है।

(८) **बालमरण** :- जिनचन्द्रसूरि अपनी कृति संवेगरंगशाला में बालमरण का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि तप, नियम, संयमादि से रहित अविरत जीवों की मृत्यु को बालमरण कहते हैं।

(९) **पण्डितमरण** :- संवेगरंगशाला में यम, नियम, संयम आदि सर्वविरतियुक्त जीव की मृत्यु को पण्डितमरण कहते हैं।

(१०) **बालपण्डितमरण** :- संवेगरंगशाला में बालपण्डितमरण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि देशविरति को स्वीकार करके जो जीव मृत्यु को प्राप्त होता है, उसका मरण बालपण्डितमरण कहलाता है।

(११) **छद्मस्थमरण** :- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्यवज्ञान से युक्त छद्मस्थ का मरण छद्मस्थमरण कहलाता है।

(१२) **केवलीमरण** :- जो जीव केवलज्ञान प्राप्त करके मृत्यु को प्राप्त होता है उसके मरण को केवलीमरण कहते हैं।

(१३) **बेहायस (वैरदानस) मरण** :- जो जीव गले में फांसी आदि लगाकर मरण को प्राप्त होता है उस मरण को संवेगरंगशाला में बेहायस (वैखानस) मरण कहा गया है।

(१४) **गृद्धपृष्ठमरण** :- संवेगरंगशाला के अनुसार जो जीव गृद्धादि के भक्षण द्वारा मरण को प्राप्त होता है, तो उस मरण को गृद्धपृष्ठमरण कहा गया है।

(१५) **भक्तपरिज्ञामरण** :- संवेगरंगशाला में भक्तपरिज्ञामरण पर प्रकाश डालते हुए यह निरूपित किया गया है कि जीव ने इस संसार में अनादिकाल से आहार ग्रहण किया है, फिर भी इस जीव को आहार से तृप्ति नहीं हुई। इस जीव को उसके प्रति इतनी रुचि है - जैसे पहले कभी उसका नाम सुना नहीं हो अथवा उसे देखा नहीं हो, अथवा कभी खाया नहीं हो अथवा उसे प्रथम बार ही मिला हो। इस प्रकार वह आहार के प्रति लालायित बना रहता है। किन्तु जिस आहार के प्रति यह जीव बना है, वह अशुचित्य आदि अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न करने वाला है। उसकी

आसक्ति पापबन्ध का कारण है। अतः ऐसे आहार को ग्रहण करने से अब मुझे क्या लाभ है? इस तरह विचार कर वह ज्ञानी भगवन्तों के वचनानुसार विषय-भोगों के हेय स्वरूप को जानकर उनका प्रत्याख्यान करता है। प्रत्याख्यान में साधक चारों प्रकार के आहार, पानी, बाह्यउपधि (वस्त्र, पात्रादि) और आभयन्तर उपधि (रागादि) इन सर्व का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है।

इस प्रकार जो जीव तीन प्रकार अथवा चारों प्रकार के आहार का यावज्जीवन प्रत्याख्यान करता है, उस भक्तपरिज्ञा स्वीकार करके मरण को प्राप्त करना भक्तपरिज्ञामरण कहलाता है। भक्तपरिज्ञा ग्रहण करने वालों को शरीर की सेवा सुश्रूषादि करने की छूट होती है। भक्तपरिज्ञा मरण के सविचार और अविचार इस प्रकार दो भेद हैं -

(१) जिसमें व्यक्ति विचारपूर्वक निश्चय करके क्रमशः आहारादि का त्याग करते हुए देह त्याग करता है, उसे सविचारभक्तपरिज्ञामरण कहते हैं।

(२) किसी आकस्मिक विपदा के कारण जिस मुनि का आहारादि के क्रमशः त्याग करने का समय न हो अर्थात् अनायासमरण के उपस्थित हो जाने पर जो व्यक्ति समभावपूर्वक मृत्यु को स्वीकार करता है उसे अविचारभक्तपरिज्ञामरण कहते हैं।

संवेगरंगशाला में अविचारभक्तपरिज्ञामरण को निम्न तीन भागों में विभक्त किया गया है -

(१) निरुद्ध (२) निरुद्धतर और (३) परम निरुद्धतर।

(१) **निरुद्ध** :- इसमें तत्काल मरण का कारण उपस्थित हो जाने पर अर्थात् असाध्य रोगादि के होने पर अपने ही संघ में रहकर तथा दूसरों की सहायता से आराधना करते हुए देह त्याग करना निरुद्ध अविचार भक्तपरिज्ञामरण कहलाता है। यह मरण भी प्रकाश और अप्रकाश - इस तरह दो प्रकार का है।

(२) **निरुद्धतर** :- **संवेगरंगशाला** के अनुसार सर्प 'अग्नि' सिंह आदि के निमित्त से तत्काल आयुष्य को समाप्त होता हुआ जानकर मुनि की जब तक वाणी बन्द नहीं हुई हो और चित्त व्यथित नहीं हुआ हो तब तक समीप में रहे हुए आचार्यादि के समक्ष सम्यक् रूप से अविचारों की आलोचना करना और फिर आहारादि का त्याग करके देह त्याग करना निरुद्धतर अविचारभक्तपरिज्ञामरण कहा जाता है।

(३) **परम निरुद्धतर** :- रोगादि अथवा अनायास मरण तथा अन्य किसी निमित्त के उपस्थित हो जाने से जब साधक की वाणी भी बन्द हो जाए अर्थात् बोलने में असमर्थ हो जाए, तब उसी समय मन से ही चारों शरण को स्वीकार कर सर्व

साधुओं से क्षमायाचनापूर्वक आत्म आलोचना करके चारों आहार का त्याग करके शरीर को त्याग देना ही परमनिरुद्धतर अविचारभक्तपरिज्ञामरण कहा जाता है।

(१६) इंगिनीमरण :- संवेगरंगशाला में इंगिनीमरण का अर्थ बनाते हुए कहा गया है कि क्षपक गमनागमन हेतु क्षेत्र की सीमा निर्धारित करके ही उस क्षेत्र में चेष्टा करते हुए अनशन द्वारा देह त्याग करना ही इंगिनीमरण है। यह मरण चारों प्रकार का आहार त्याग करने वाले, शरीर की सेवा-शुश्रूषा नहीं कराने वाले और एक विशेष क्षेत्र में रहकर देह त्याग करने वाले को ही प्राप्त होता है।

इस ग्रन्थ में इंगिनीमरण को ग्रहण करनेवाले एक प्रज्ञावान मुनि को अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्गों को किस प्रकार सहन करना चाहिए, इसका भी सुन्दर विवेचन किया गया है।

इंगिनीमरण भक्तपरिज्ञा से विशिष्ट मरण है। भक्तपरिज्ञा में की जाने वाली साधना तो इसमें भी की ही जाती है किन्तु इसमें साधक दूसरों से किसी प्रकार की सेवा न लेकर संथारा ग्रहण करने के अनन्तर स्वयं ही शरीर के आकुंचन, प्रसारण, उच्चार आदि की क्रियाएँ करता है।

(१७) पादपोपगमनमरण :- संवेगरंगशाला के अनुसार मरण के इस अन्तिम प्रकार में साधक बिना हलन-चलन किए मृत्यु पर्यन्त कटे हुए पेड़ की तरह एक स्थान पर पड़ा रहकर देह त्याग करता है। इसे पादपोपगमनमरण कहते हैं। इस मरण के निम्न दो प्रकार हैं - नीहारिम और अनीहारिम।

(१) साधक को कोई हरणकर या उठाकर ले जाए और इस प्रकार उसका देह त्याग अन्य स्थान पर हो तो उसे नीहारिमपादपोपगमनमरण कहते हैं।

(२) यदि साधक अपने स्थान पर ही मृत्यु को प्राप्त होता है तो उसे अनीहारिम पादपोपगमनमरण कहते हैं। इस मरण को स्वीकार करने वाला साधक न स्वयं शरीर की सेवा, शुश्रूषा करता है, न दूसरों से सेवा करवाता है। वह शरीर के प्रति पूर्णतः ममत्व का त्याग करता है। किसी के द्वारा शरीर को गन्ध विलेपन आदि लगाने या देह को काट देने पर भी मुनि किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करता है। वह शरीर को जड़वत् छोड़ देता है क्योंकि वह हलन-चलन की प्रवृत्ति से रहित होता है।

संवेगरंगशाला का यह विवर्चन मूलतः आगमाधारित है। सर्वप्रथम समवायांगसूत्र^१ में मरण के उपर्युक्त सत्रह प्रकारों का उल्लेख है। समवायांग और संवेरंगशाला के नामों एवं उनके अनुक्रमों में समानता दृष्टिगोचर होती है। इससे यह निश्चित होता है कि ग्रन्थकर्ता जिनचन्द्रसूरि ने मरण के इन भेदों का उल्लेख इसी आगम ग्रन्थ के आधार पर किया है।

भगवतीआराधना^२ में भी मरण के निम्न सत्रह प्रकारों का विवेचन किया गया है। **संवेगरंगशाला** एवं **भगवतीआराधना** में मरण के इन सत्रह प्रकारों में सामान्य तौर पर तो समानता ही दृष्टिगोचर होती है, लेकिन कहीं-कहीं कुछ में एवं उनकी क्रम संख्या में कुछ विभिन्नता भी दिखाई देती है।

उदाहरणस्वरूप **भगवतीआराधना** में अवधिमरण के दो विभाग देशावधिमरण और सर्वावधिमरण मिलते हैं, लेकिन **संवेगरंगशाला** में अवधिमरण का इस तरह से स्पष्ट वर्गीकरण नहीं हुआ है। **संवेगरंगशाला** में छद्मस्थ मरण का उल्लेख है, जबकि **भगवतीआराधना** में इस नाम के किसी मरण का उल्लेख नहीं मिलता है। **भगवतीआराधना** में आसणमरण की चर्चा है, जिसका विवरण **संवेगरंगशाला** में नहीं है। इन विभिन्नताओं के अतिरिक्त मरण के प्रकारों के सम्बन्ध में कोई अन्य अन्तर परिलक्षित नहीं होता है।

संवेगरंगशाला के परवर्ती ग्रन्थों में हमें आचार्य नेमिचन्द्र के **प्रवचनसारोद्धार**^३ में भी **संवेगरंगशाला** के समान ही मरण के १७ भेदों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इस मरण के सत्रह भेदों की यह चर्चा आगम काल से लेकर ईसा की सोलहवीं शती तक निरन्तर रूप से जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

सन्दर्भ :

१. **समवायांगसूत्र** १७/१२१.
२. **भगवतीआराधना**, गाथा २५.
३. **प्रवचनसारोद्धार**, गाथा १००६-१०१७.



जैन आगमों में संगीत-विज्ञान

साध्वी डॉ० मंजुश्री*

सदा-सदा से ही मनुष्य संगीत, प्रेमी रहा है। युगलिया काल में (जब सभ्यता की शुरुआत भी नहीं हुई थी, तब) भी मनुष्य तूर्यांग जाति के कल्पवृक्षों से वादित्त प्राप्त कर संगीत सुनता था (समवायांग सूत्र, समवाय १०, पृ० २१-२४, ब्यावर)। सभ्यता का प्रारंभ होने के बाद तो उसने अपने लिए न जाने कितने वाद्य-यंत्र बना लिए, कितनी ही राग-रागिनियों का आविष्कार कर लिया।

सुना है, आज भी कई जंगलों में ऐसी वनस्पतियाँ हैं जिनसे रात्रि में संगीत फूटता है।

मनुष्य ने पत्थरों में भी संगीत ढूँढा है। दक्षिण भारत की यात्रा के दौरान कई पत्थरों में से निकले वाली संगीत की ध्वनियों को हमने भी सुना है। हम्पी शहर (कर्नाटक) के मुख्य मंदिर में लगे हुए स्तम्भों को बजाने पर उनमें से भी अलग-अलग स्वर-लहरियाँ निकलती हैं।

वायु भी जब स्वस्थ और प्रसन्न होती है, तो उसमें से भी प्रवाहित होता संगीत हमने सुना है।

कल-कल करती नदियों और झर-झर झरते निर्झरों का संगीत तो सर्व-जन-प्रसिद्ध है ही।

शंखों की मधुर चटकार, झल्लरियों की झनकार, भौरों का गुंजार, कोयल की कुहक, पक्षियों की चहक प्रकृति के सुरम्य वातावरण में संगीत का रस घोलती ही है।

वनस्पति, पृथ्वी, वायु, जल एवं द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यचों के उक्त स्वरों को सुर देने का कार्य संसार के सर्वश्रेष्ठ प्राणी 'मनुष्य' ने किया है। संगीत-कला-विज्ञानी मनुष्यों ने इन सुरों को सात स्वरों में वर्गीकृत करते हुए इनकी व्यापकता और गहराई को समझाने का श्लाघ्य/महान् कार्य किया है।

सप्त स्वर-विवेचना : जैनागमों में भी संगीत-कला को स्त्रियों की ६४ कलाओं के अन्तर्गत विशेष स्थान प्राप्त है। आगमों में यत्र-तत्र संगीत-संबंधी विवरण उपलब्ध होते हैं। यहाँ उनकी विस्तृत विवेचना संभव नहीं है। यहाँ तो हम सिर्फ

* श्री चन्द्रसेन जैन, जी-२३, म०नं० १५, सेक्टर - ७, रोहिणी - दिल्ली - ८५

स्थानांगसूत्र तथा **अनुयोगद्वार** सूत्र में उल्लिखित 'सम-स्वर-विवेचना' को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं। इसे 'स्वर मंडल सूत्र' के नाम से दोनों शास्त्रों में निबद्ध किया गया है। यह वर्णन हम यहाँ **अनुयोगद्वारसूत्र** (सूत्रकार-आर्यरक्षित, वी०नि०सं० ५९२ वि०सं० १२२) के अनुसार लिख रहे हैं। कुछेक पाठान्तरों के साथ यह संपूर्ण वर्णन **स्थानांगसूत्र** के सप्तम स्थान में प्राप्त होता है।

'सात नाम' के अन्तर्गत सात स्वरों की विवेचना करते हुए **अनुयोगद्वारसूत्र** (पृ० १७९-१८९, व्यावर) में कहा गया है -

सत्त नामे सत्त सरा पण्णत्ता। तं जहा -

सज्जे रिसभे गंधारे मज्झिमे पंचमे सरे।

धेवए चेव णेसाए सत्त सारा वियाहिया॥

अर्थात् सप्त नाम के रूप में सात प्रकार के स्वरों का स्वरूप कहा गया है। ये सात स्वर इस प्रकार हैं -

षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद।

सात स्वरों के सात स्वर-स्थान : इन सात स्वरों के सात स्वर-स्थान (उच्चारण स्थान) कहे गये हैं, यथा -

जिह्वा के अग्रभाग से षड्ज स्वर का, वक्षस्थल से ऋषभ स्वर का, कंठ से गांधार स्वर का, जिह्वा के मध्य भाग से मध्यम स्वर का, नासिका से पंचम स्वर का, दांतों और होठों से धैवत स्वर का, भौंहे चढ़ा कर/शिर से/मूर्द्धा से निषाद स्वर का उच्चारण होता है।

ये सातों स्वर जीव-निश्चित भी होते हैं और अजीव-निश्चित भी।

जीव-निश्चित सात स्वर : जीव-निश्चित सात स्वर इस प्रकार हैं - मयूर षड्ज स्वर में बोलता है, कुक्कुट (मुर्गा) ऋषभ स्वर में। हंस गांधार स्वर में बोलती है और गवेलक (भेड़) मध्यम स्वर में। पुष्पोत्पत्ति काल (वसन्त ऋतु - चैत्र-वैशाख मास) में कोकिल पंचम स्वर में बोलता है। सारस और क्रौंच पक्षी धैवत स्वर में बोलते हैं तथा हाथी निषाद स्वर में बोलता है।

अजीव-निश्चित सात स्वर : मृदंग नामक बाद्य, से षड्ज स्वर निकलता है। गोमुखी बाद्य से ऋषभ स्वर, शंख से गांधार स्वर, झल्लरी (झालर) से मध्यम स्वर, चार चारणों पर स्थित गोधिका से पंचम स्वर, आडम्बर (नगाड़ा, ढोल) से धैवत स्वर और महाभेरी से निषाद स्वर निकलता है।

सात स्वरों के सात स्वर-लक्षण (फल) : इन सात स्वरों के सात स्वर-लक्षण अर्थात् फल कहे गये हैं -

(१) षड्ज स्वर वाला मनुष्य आजीविका प्राप्त करता है। उसका प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। उसे गोधन, पुत्र-पौत्रादि और सन्मित्रों का संयोग मिलता है। वह स्त्रियों का प्रिय होता है।

(२) ऋषभ स्वर वाला मनुष्य ऐश्वर्यशाली होता है। सेनापतित्व, धन-धान्य, वस्त्र-गंध अलंकार-स्त्री-शयनासन आदि भोग-साधनों को प्राप्त करता है।

(३) गांधार स्वर वाले मनुष्य गीत-युक्तियों के जानकार होते हैं वादित्र-वृत्ति वाले होते हैं। वे अनेक कलाओं के ज्ञाता, कवि, प्रज्ञावान और अनेक शास्त्रों के पारगामी होते हैं।

(४) मध्यम स्वर वाले मनुष्य सुखजीवी होते हैं। रुचि के अनुरूप खाते-पीते और जीते हैं। दूसरों को भी खिलाते-पिलाते और दान देते हैं।

(५) पंचम स्वर वाले मनुष्य पृथ्वीपति (राजा आदि) होते हैं। वे शूरवीर, संग्रहकर्ता (जन-धन-संग्राहक) तथा अनेक मनुष्यों के नायक होते हैं।

(६) धैवत स्वर वाले मनुष्य कलह प्रिय, शाकुनिक (पक्षियों को मारने वाले-चिड़ीमार), वागुरिक (हिरण आदि को जाल में फंसाने वाले) शौकरिक (सूअर आदि का शिकार करने वाले) और मत्स्यबंधक (मच्छीमार) होते हैं।

(७) निषाद स्वर वाले मनुष्य चांडाल (वधिक), मुक्केबाज, गोघातक, चोर और इसी प्रकार के अन्यान्य पाप करने वाले होते हैं।

सप्त स्वरों के ग्राम और उनकी मूर्च्छनाएँ : गायक का गीत के स्वरों में तल्लीन हो जाना मूर्च्छित सा हो जाना 'मूर्च्छना' कहलाता है। मूर्च्छनाओं के समुदाय को 'ग्राम' कहते हैं।

इन सात स्वरों के तीन ग्राम होते हैं प्रत्येक ग्राम की सात-सात मूर्च्छनाएँ होती हैं। कुल मिला कर २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं।

तीन ग्राम इस प्रकार हैं - षड्ज ग्राम, मध्यम ग्राम और गांधार ग्राम।

षड्ज ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ कही गई हैं -

(१) मंगी, (२) कौरवीया, (३) हरिता, (४) रजनी, (५) सारकान्ता, (६) सारसी और (७) शुद्ध षड्जा।

५२ : श्रमण, वर्ष ५६, अंक ७-९/जुलाई-सितम्बर २००४

मध्यम ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ ये हैं -

(१) उत्तरयंदा, (२) रजनी, (३) उत्तरा, (४) उत्तरायशा अथवा उत्तरायता, (५) अश्वक्रान्ता, (६) सौवीरा, (७) अभिरुद्गता या अभीरुद्गता।

गांधार ग्राम की सात मूर्च्छनाओं के नाम इस प्रकार हैं -

(१) नन्दी, (२) क्षुद्रिका, (३) पूरिया, (४) शुद्ध गांधारा, (५) उत्तर गांधारा, (६) सुष्ठुतर आयामा और (७) उत्तरायता कोटिया।

स्वरोत्पत्ति-योनि-उच्छ्वास काल और आकार : ये सातों स्वर नाभि से उत्पन्न होते हैं। गीत की योनि (जाति) रुदन है। जितने समय में किसी छन्द का एक चरण गाया जाता है, उतना उसका (गीत का) उच्छ्वास काल होता है। गीत के तीन आकार होते हैं - आदि में मृदु, मध्य में तार (तीव्र/उच्च) और अंत में मंद।

गीत की योनि रुदन है, शास्त्रकार के इस कथन को आधुनिक काल में हिन्दी साहित्य-जगत के विशिष्ट कवि सुमित्रानन्दन पंत ने इन शब्दों में रूपायित किया है-

‘वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।

निकल कर होठों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान।।

गीत-गायक की योग्यता :

गीतकार को गीत के गुणों और दोषों का मर्मज्ञ/ज्ञाता होना ही चाहिये। इसलिए उसकी योग्यता का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं -

‘छद्मेसे अद्भु गुणे तिण्णि य वित्ताणि दोण्णि भण्णित्तीओ।
जो णाही सो गाहित्ति, सुसिक्खतो रंगमज्झम्मि।’

अर्थात् गीत के छह दोषों, आठ गुणों, तीन वृत्तों और दो भणित्तियों को जो जानेगा, वही सुशिक्षित (गान-कला-कुशल) गायक रंगमंच पर अच्छी तरह गायेगा।

गीत के दोष : गीत के छह दोष होते हैं, तद्यथा -

१) भीत दोष - डरते हुए गाना।

२) द्रुत दोष - उद्वेग-वश शीघ्रता से गाना।

३) उत्पिच्छ दोष - शब्दों को लघु बना कर जल्दी-जल्दी गाना अथवा असमय में सांस लेना।

४) उत्ताल दोष - ताल-विरुद्ध गाना।

५) काकस्वर दोष - कौए के समान कर्णकटु स्वर में गाना।

६) अनुनास दोष - नाक से स्वरों का उच्चारण करते हुए गाना।

गीत के आठ गुण : गीत के आठ गुण इस प्रकार माने जाते हैं -

- १) पूर्ण गुण - स्वर के आरोह-अवरोह आदि से परिपूर्ण गाना।
- २) रक्त गुण - गेय राग से भावित/परिष्कृत गाना।
- ३) अलंकृत गुण - विभिन्न विशेष शुभ स्वरों से संपन्न गाना।
- ४) व्यक्त गुण - गीत के बोलों - स्वर - व्यंजनों का स्पष्ट रूप से उच्चारण करते हुए गाना।

५) अविघुष्ट गुण - विकृति और विश्रंखलता से रहित नियत और नियमित स्वर से गाना (अर्थात् चीखते-चिल्लाते हुए न गाना)।

- ६) मधुर गुण - मधुर, मनोरम, कर्णप्रिय स्वर से गाना।
- ७) सम गुण - सुर, ताल, लय आदि से समनुगत-संगत स्वर में गाना।
- ८) सुललित गुण - स्वरघोलनादि द्वारा ललित, कोमल लय से गाना।

गीत के अन्य आठ गुण : गीत के आठ गुण और भी हैं, जो इस प्रकार हैं -

- १) उरोविशुद्ध - जो स्वर उरः स्थल में विशाल होता है।
- २) कंठ-विशुद्ध - जो स्वर कण्ठ में नहीं फटता।
- ३) शिरोविशुद्ध - जो स्वर शिर से उत्पन्न होकर भी नासिका से मिश्रित नहीं होता।

४) मृदु - जो गीत कोमल स्वर से गाया जाता है।

५) रिभित - घोलना - बहुल आलाप के द्वारा गीत में चमत्कार पैदा करना।

६) पद बद्ध - गीत को विशिष्ट गेय-पदों से निबद्ध करना।

७) समताल - प्रत्युत्क्षेप - जिस गीत में हस्त-ताल, वाद्य-ध्वनि और नर्तक का पाद-क्षेप हो अर्थात् एक-दूसरे से मिलते हों।

८) सप्त स्वर-सीभर - जिसमें सातों स्वर तंत्री आदि वाद्य-ध्वनियों के अनुरूप हों। अथवा वाद्य-ध्वनियाँ गीत के स्वरों के अनुसार हों।

सप्त स्वर-सीभर की व्याख्या : षड्ज आदि स्वर कंठोद्गत ध्वनि-वाचक हैं, यहाँ लिपि रूप अक्षरों की अपेक्षा से सात स्वर इस प्रकार माने गये हैं -

१) अक्षरसम - ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत और सानुनासिक अक्षरों के अनुरूप गीत।

२) पदसम - स्वर के अनुरूप पदों और पदों के अनुरूप स्वरों के अनुसार गाया जाने वाला गीत।

३) तालसम - ताल वादन के अनुरूप गीत।

४) लयसम - वीण आदि को आहत करने पर जो लय उत्पन्न होती है, उसके अनुसार गाया जाने वाला गीत।

५) ग्रहसम - वीणा आदि द्वारा जो स्वर पकड़े जाते हैं, उन्हीं के अनुसार गाया जाने वाला गीत।

६) निःश्वसित - उच्छ्वसितसम - सांस लेने और छोड़ने के क्रमानुसार गाया जाने वाला गीत।

७) संचारसम - सितार आदि वाद्यों के तारों पर अंगुली के संचार के साथ गाया जाने वाला गीत।

इस प्रकार तंत्री आदि के साथ संबंधित होकर गीत स्वर सात प्रकार का हो जाता है। -

प्रत्येक स्वर सात तानों से गाया जाता है, इसलिए उनके (७ × ७ =) ४९ भेद हो जाते हैं।

गेय पदों के आठ गुण : गेय पदों के आठ गुण इस प्रकार दर्शाए गए हैं-

१) निर्दोष - अलीक, उपघात आदि बत्तीस दोषों से रहित होना।

२) सारवंत - सारभूत विशिष्ट अर्थ से युक्त होना।

३) हेतुयुक्त - अर्थ-साधक हेतु से संयुक्त होना।

४) अलंकृत - उपमा-उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से युक्त होना।

५) उपनीत - उपसंहार से युक्त होना।

६) सोपचार - कोमल, अविरोद्ध और अलज्जनीय अर्थ का प्रतिपादन करना। अथवा, व्यंग या हँसी से संयुक्त होना।

७) मित - अल्प पद और अल्प अक्षर वाला होना।

८) मधुर - सुश्राव्य शब्द, अर्थ और प्रतिपादन की अपेक्षा प्रिय होना।

विभिन्न अपेक्षाओं से गीत संबंधी उपर्युक्त गुण-दोषों का वर्णन करने का कारण यह है कि गायक गीत-विधाओं को जानते हुए भी यदि दोष-निराकरण और गुण-समायोजन का लक्ष्य नहीं रखता है, तो वह जनप्रिय और सम्माननीय नहीं हो पाता है।

गीत के वृत्त : गीत के वृत्त अर्थात् छन्द तीन प्रकार के होते हैं -

१) सम - जिसके चारों चरण समान हों।

- २) अर्द्धसम-जिसमें प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण समान हों।
 ३) सर्व विषय - चारों चरण विषम हों।

छन्द के ये ही तीन प्रकार होते हैं, चौथा प्रकार नहीं पाया जाता।

गीत-गायिकाओं के प्रकार : श्यामा (षोडशी) स्त्री मधुर स्वर में गाती है। कृष्णावर्णी स्त्री कठोर और रुक्ष स्वर में गाती है, गौरवर्णा स्त्री चातुर्य से गाती है। कानी स्त्री मंद स्वर में गाती है। अंधी स्त्री शीघ्रता से गाती है। कपिला स्त्री (पिंगला) विकृत स्वर में गीत गाती है।

गीत गाने वाली गायिकाओं की उक्त योग्यता उनके परोक्ष में भी, उनके गीत के आधार पर पहचानी जा सकती है।

एक विशेष प्रसंग यों घटा - एक शहर में विवाह के गीत गाती हुई कुछ महिलाएँ सड़क से जा रही थीं। वहीं स्थानक में एक जैन साधु विराज रहे थे। उनके पास कुछ सद्गृहस्थ भी बैठे थे। धर्म-चर्चा चल रही थी। महाराजश्री के कानों में गीतों की आवाज आई। उन्होंने पूछा - क्या आप लोगों में विधवा स्त्रियाँ भी मंगल गीत गाती हैं। एक भाई बोले - नहीं, हमारे यहाँ शादी के गीत सधवा स्त्रियाँ ही गाती हैं, ये सब सधवा हैं। महाराजश्री ने कहा - इनमें एक विधवा की आवाज आ रही है। लोगों ने उठ कर छज्जे में जाकर देखा और महाराजश्री को बुला कर कहा देखिए, महाराज! ये सब सधवा स्त्रियाँ हैं। महाराजश्री ने एक महिला की ओर इशारा करते हुए कहा - वह महिला विधवा है और ५-१० मिनट बाद तो खबर आ गई कि उस स्त्री का पति अचानक दुर्घटना का शिकार होकर चल बसा।

यह घटना सिद्ध करती है कि हम अपने आसपास के जगत् से इतने अधिक प्रभावित होते हैं कि एक के यूँ चले जाने पर दूसरे की आवाज भी बदल जाती है।

शास्त्रकार ने यहाँ गीत-गायिकाओं के प्रकार दिए हैं, गीत-गायक के नहीं। जबकि ऐसी मान्यता है कि सभी तीर्थंकर मालकोश राग में गाकर उपदेश दिया करते थे, तथा हमारे बहुत से शास्त्रों की रचना पद्यात्मक है अर्थात् गेय है, छन्दोबद्ध है, इन्हें पुरुषों ने भी गाया ही है।

तानसेन जैसे विश्व प्रसिद्ध गायक इस धरती पर हमेशा ही जन्म लेते रहे हैं। खेतों में हल चलाते समय गाने वाले किसान भी हमेशा से रहे हैं, तो होली आदि विशेष-विशेष पर्वों पर टोलियाँ बना-बना कर गाने-बजाने वाले पुरुष भी सदा रहे हैं।

तो फिर गायक के प्रकारों का उल्लेख क्यों नहीं किया गया? तथ्य अन्वेषणीय है।

हाँ, यह हो सकता है कि गीत-गायिकाओं के प्रकारों को ही उपलक्षण से गीत-गायकों के प्रकार भी मान लिया जाए।

गीत की भाषा : अनुयोगसूत्र में गीत की दो ही भाषाएँ प्रशस्त और ऋषिभाषित मानी हैं - संस्कृत और प्राकृत। वर्तमान युग में तो गीत अनेकों भाषाओं में गाये जाते हैं।

काव्य-प्रकार : स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान के चतुर्थ उद्देशक में काव्य के चार प्रकार वर्णित हैं - चउव्विहे कव्वे पण्णत्ते। तं जहा - गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेए। (पृ० ४४२, ब्यावर)

अर्थात् काव्य चार प्रकार का होता है -

१) गद्य काव्य - छन्द-रहित रचना-विशेष, २) पद्य काव्य - छन्द-युक्त रचना-विशेष, ३) कथ्य काव्य - कथा रूप से कही जाने वाली रचना-विशेष, ४) गेय काव्य-गाने के योग्य रचना-विशेष।

काव्य के इन चार प्रकारों के वर्णन से प्रतीत होता है कि उस प्राचीन युग में इन चारों प्रकार के काव्यों का प्रचलन था।

जबकि वर्तमान हिन्दी युग के कवि छन्द-रहित रचना-विशेष को 'नई कविता' के नाम से वर्तमान युग का (या अंग्रेजी युग की) देन मानते हैं।

जैसे उस प्राचीन युग में ये चारों प्रकार के काव्य लिखे जाते थे, वैसे ही आज भी लिखे जाते हैं। अर्थात् यह चतुर्विध काव्य-परम्परा प्राचीन काल से वर्तमान काल तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है और पाठक या श्रोता इन काव्यों के मधुर, सुश्राव्य, सुपाठ्य सुरों में अपना सुर मिला कर समस्वरता/ समरसता/ एकरसता/ तन्मयता/ एकतानता/ साधारणीकरण की अनुभूति करता रहा है।



भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित गृहस्थों की आचार संहिता

महेन्द्र कुमार मस्त*

भगवान् महावीर ने गृहस्थों और साधुओं के लिए भिन्न-भिन्न आचार संहिता का प्रतिपादन किया है। मनुष्य की सहज दुर्बलताओं के प्रति सजग व जानकार होने के कारण उन्हें पता था कि त्याग के मार्ग को अपनापाना सभी के लिये सरल नहीं है। उन का उपदेश था - “दुविहे धम्मे। आगार धम्मे अणगार धम्मे” अर्थात् धर्म के दो प्रकार हैं। एक गृहस्थ धर्म और दूसरा साधु धर्म। इसीलिए भगवान् महावीर ने साधुओं तथा गृहस्थों के लिए दो अलग-अलग आचार संहिताएं बनाईं व उपदेशित कीं तथा दोनों को ही उन्होंने “धर्म” की संज्ञा दी। गृहस्थों की आचार-विधि व दिनचर्या कभी भी पाप या दोष पूर्ण नहीं है।

अहिंसा को दैनिक आचार-व्यवहार का मुख्य सिद्धान्त बताते हुए भी भगवान् महावीर ने समय और परिस्थितियों के अनुसार “हिंसा” की विभिन्नताओं को समझा था। हिंसा करने वाले की नीयत, भावना व मानसिकता को देखना- समझना इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि जानबूझ कर और इच्छा सहित की गई हिंसा ही पाप है। यह सर्वविदित है कि साधारण मनुष्यों द्वारा अपने विभिन्न कार्यों, जैसे खाना-रसोई, स्नान-धुलाई करने तथा सफर करने आदि अनेक विध दिनचर्याओं में उनसे जीव हिंसा होती रहती है। कृषि, व्यापार तथा उद्योग धंधों आदि कार्यों में भी जीव हिंसा होती है। यहां तक कि अपने निज के प्राण, संपत्ति व देश को बचाने के कार्यों में भी जीवों की हिंसा, मरणान्त हिंसा भी संभव है।

अपने द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के दृढ़ नियमों में इस प्रकार की उदारता के अनुरूप ही, गृहस्थ जीवन में हिंसा से कैसे बचा जा सकता है, इस प्रश्न के समाधान में भगवान् महावीर ने हिंसा के तीन भेद किये हैं। इन में गृहस्थ को निरर्थक और संकल्पजा हिंसा से दूर रहने की बात कही है, जो कि अत्यंत व्यवहार्य और सुखी जीवन की आधारशिला है। भगवान् महावीर का कथन है कि ----- “कृषि, रक्षा, व्यापार, शिल्प और आजीविका के लिए जो हिंसा की जाती है, उस हिंसा से कोई गृहस्थ बच नहीं पाता। इसी प्रकार, आक्रमणकारियों का भी बलपूर्वक प्रतिरोध किया जाता है, तथा जिस हिंसा के प्रेरक राग-द्वेष और प्रमाद होते हैं और जिस में आजीविका का प्रश्न गौण होता है, वह संकल्पजा हिंसा है। गृहस्थों (श्रावकों) के लिए मैंने यथाशक्ति अहिंसा के आचरण का विधान और संकल्पजा हिंसा का निषेध किया है।”



* महेन्द्र कुमार मस्त, ३२०, इण्डस्ट्रियल एरिया द्वितीय, चंडीगढ़

नेमिदूतम् का अलङ्कार-लावण्य

डॉ० विनोद शर्मा* एवं श्रीमती आशा शर्मा**

संस्कृत-दूतकाव्यों की स्थिति को सुस्थिरता प्रदान करने में जैन-कवियों का अविस्मरणीय योगदान रहा है। जैन-दूतकाव्यों में कवि श्रीविक्रम-प्रणीत 'नेमिदूतम्' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के मूर्धाभिषिक्त महाकवि कालिदास-रचित मेघदूतम् के चतुर्थ चरण की पादपूर्ति (समस्यापूर्ति) के रूप में इस दूतकाव्य की रचना हुई है।

नेमिदूतम् : संक्षिप्त परिचय

नेमिदूतम् के अन्तिम पद्य में कवि ने स्वयं को 'साङ्गण का पुत्र' (साङ्गणस्याङ्ग-जन्मा) कहा है।^१

नेमिदूतम् में कुल १२६ पद्य हैं जिनमें जैनधर्म के बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ का चरित वर्णित है। द्वारिका के यदुवंशी नृपति श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भाई समुद्रविजय थे। नेमिनाथ समुद्रविजय के ज्येष्ठ पुत्र थे। बाल्यावस्था से ही ये विषयविमुख थे। बारातियों के भोजन के निमित्त बंधे हुए पशुओं के आर्तनाद को सुनकर उनका हृदय द्रवित हो गया तथा वे सांसारिक बन्धनों को तोड़कर रैवन्तगिरि पर्वत पर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये समाधिस्थ हो गये।

नेमिकुमार के विरक्त होकर तपश्चरण के लिये चले जाने पर विरहविधुरा राजीमती एक वृद्ध ब्राह्मण को उनका कुशल समाचार लाने हेतु श्रीनेमि की तपोभूमि में भेजती है। तत्पश्चात् पिता की आज्ञा लेकर स्वयं एक सखी के साथ वहाँ पहुँचकर श्रीनेमि से लौट चलने की प्रार्थना करती है। किन्तु नेमि अपने पथ से विचलित नहीं होते। अन्ततः राजीमती उनसे दीक्षा लेकर तपश्चर्या में संलग्न हो जाती है।

अलङ्कार : परिभाषा एवं स्वरूप

जिन साधनों द्वारा काव्य की शोभावृद्धि की जाती है, उनमें अलङ्कार अन्यतम हैं। अलङ्कारशास्त्र में अलङ्कार को रस, भाव आदि का उपकारक तथा शब्दार्थ का शोभातिशायी अस्थिर धर्म कहा गया है।^२ जिस प्रकार लोक में कुण्डल आदि आभूषण मानवशरीर को विभूषित करते हैं, इसलिये अलङ्कार कहलाते हैं, उसी प्रकार काव्य

* प्रवक्ता ** शोध छात्रा, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शाजापुर (म०प्र०)

में अनुप्रास, उपमा आदि काव्य के शरीरभूत शब्द-अर्थ को अलङ्कृत करते हैं, इसलिए अलङ्कार कहलाते हैं।^३

अलङ्कार अलङ्कार्य का केवल उत्कर्षाधायक तत्त्व होता है, स्वरूपाधायक अथवा जीवनाधायक तत्त्व नहीं। जो नर-नारी अलङ्कार (आभूषण) विहीन हैं वे भी मनुष्य हैं, किन्तु जो अलङ्कारयुक्त हैं वे अधिक सुन्दर लगते हैं। इसी प्रकार काव्य में अलङ्कारों की स्थिति अपरिहार्य नहीं है। यदि वे हैं, तो काव्य के उत्कर्षाधायक होंगे। इसलिये अलङ्कारों को काव्य का अस्थिर धर्म माना गया है।

वस्तुतः रस, भावादि काव्यशोभा के जनक हैं। अलङ्कार उनके द्वारा उत्पन्न शोभा को अतिशयित करते हैं। अलङ्कार के लिये सरस वाक्य अपेक्षित हैं। नीरस वाक्यों में अलङ्कार केवल विचित्रता को उत्पन्न करते हैं।^४

अलङ्कारों के मुख्यतः दो भेद किये गये हैं - शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार। जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्त्यसह होते हैं, अर्थात् किन्हीं विशेष शब्दों के रहने पर ही रहते हैं, वे अलङ्कार उन विशेष शब्दों के आश्रित होने से शब्दालङ्कार कहलाते हैं, जैसे- अनुप्रास, श्लेष, यमक, वक्रोक्ति आदि। किन्तु जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जाने पर भी, बने रहते हैं, वे अर्थाश्रित होने से अर्थालङ्कार कहलाते हैं, जैसे - उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि।

नेमिदूतम् का अलङ्कारलावण्य

कवि विक्रम ने नेमिदूतम् में अनेकविध अलङ्कारों का सफल प्रयोग किया है। ये अलङ्कार कवि के प्रतिभावैशिष्ट्य को प्रकाशित करते हैं तथा सहृदयवृन्द को आह्लादित एवं चमत्कृत किये बिना नहीं रहते। इस दूतकाव्य के अनेक पद्य दो, तीन या चार अलङ्कारों के गुच्छ से समलङ्कृत हैं। नेमिदूतम् में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा प्रभृति बहुप्रचलित अलङ्कारों के साथ-साथ भाविक, पर्याय, विनोक्ति आदि अल्पप्रचलित अलङ्कारों का भी रम्य विनियोग हुआ है, जो अलङ्कारसज्जा में कवि के असाधारण अधिकार को रेखाङ्कित करता है। नेमिदूतम् में प्रायः अलङ्कारों की स्वाभाविक प्रस्तुति हुई है, एतदर्थ ग्रन्थकार को विशेष प्रयत्न करना पड़ा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

कवि ने शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार दोनों का अपने काव्य में यथावसर प्रयोग किया है। यहाँ प्रथमतः शब्दालङ्कारों का विवेचन किया जा रहा है, तदुपरान्त अर्थालङ्कारों पर विचार किया जायेगा।

शब्दालङ्कार

अनुप्रास - अनुप्रास शब्द 'अनु + प्र + आस' से मिलकर बना है। यहाँ 'अनु' का अर्थ अनुगत, 'प्र' का प्रकृष्ट तथा 'आस' का अर्थ न्यास है। अतः रस, भावादि के अनुकूल प्रकृष्ट न्यास को अनुप्रास कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने अनुप्रास शब्दालङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है -

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।^५

अर्थात् स्वर की विषमता होने पर भी जो शब्दसाम्य (व्यञ्जनसाम्य) होता है, वह अनुप्रास अलङ्कार कहलाता है।

अनुप्रास कवि विक्रम का अति प्रिय शब्दालङ्कार है। **नेमिदूतम्** में छेकानुप्रास एवं वृत्यनुप्रास का सौन्दर्य सचेतनों को वीणा की झंकार के समान मधुर अनुभूति कराता है। कतिपय काव्यांश उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं -

(क) वृत्यनुप्रास -

◆ एतत्तुङ्ग.....शृङ्गमङ्गीकुरु, राज्यं प्राज्यं प्रणयमखिलम्.....।^६

(‘ङ्ग’ तथा अनुस्वार की आवृत्ति)

◆ मुष्णन्नन्तश्चिरपरिमलोद्गारसारं.....।^७ (‘र्’ की आवृत्ति)

◆ मनसिजरसोल्लासलीलालसानाम्.....।^८ (‘ल्’ की आवृत्ति)

◆विपुलविगलन्मालतीजालकानि।^९ (‘ल्’ की आवृत्ति)

◆ यस्यां रम्यं सुरभिसमये सोत्सवाः सीरिमुख्याः।^{१०} (‘स्’ की आवृत्ति)

◆ वृतान्तेस्मिन् तदनु कथिते मातुरस्यातयैतद्वृत्तं ज्ञातुं.....

तां तदोचे च जातं.....भ्रातरुक्तं मया यत्।^{११} (‘त्’ की आवृत्ति)

(ख) छेकानुप्रास -

◆ प्राणानव तव.....वासार्य वः वप्रप्रान्ते।^{१२}

◆ अस्मादद्रेः प्रतिपथमधः कान्तरतरसगलद्.....।^{१३}

◆ मान्यो मन्त्री.....स्वशयविहिता सत्क्रिया....स्यादनल्पाभ्यसूयः।^{१४}

श्लेष - साहित्यदर्पणकार ने श्लेषालङ्कार की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि श्लेष पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेष अलङ्कार होता है -

श्लेषैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।^{१५}

कवि विक्रम ने **नेमिदूतम्** में श्लेष अलङ्कार का अत्यल्प प्रयोग किया है। यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत हैं -

कुर्वन् पान्थांस्त्वरितहृदयान् सङ्गमायाङ्गनाना -
मेनं पश्याधिगतसमयः स्वं वयस्यं मयूरम्।^{१६}

यहाँ 'अधिगतसमयः' श्लिष्ट पद है। इसके तीन अर्थ हैं -

(क) प्रस्तावविज्ञ, (ख) उपयुक्त काल को जानने वाले तथा (ग) युवावस्था को प्राप्त। इस प्रकार प्रस्तुत पद्यभाग में श्लेषालङ्कार है।

तस्मिन्नुद्यन्मनसिजरसाः प्रांशुशाखावनाम
व्याजादाविःकृतकुचवली नाभिकाञ्चीकलापाः।^{१७}

प्रस्तुत पंक्तियों में प्रयुक्त 'मनसिजरसाः' श्लिष्ट पद है। इससे दो अर्थों का बोध होता है - (क) प्रकट हुए कामानुराग वाली तथा (ख) प्रकट हुए काम के आनन्द या आस्वाद वाली। इस प्रकार यहाँ भी श्लेषालङ्कार की छटा है।

यमक - यदि अर्थ हो तो भिन्न-भिन्न अर्थ वाले (अन्यथा निरर्थक) स्वर-व्यञ्जनसमूह की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक अलङ्कार कहते हैं -

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।

क्रमेण तनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।।^{१८}

इस प्रकार स्वरव्यञ्जनसमूह एक सार्थक पद भी हो सकता है और निरर्थक वर्णसमुदाय भी।

नेमिदूतम् में श्लेष के समान ही यमक अलङ्कार का भी अल्प प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। किञ्चित् स्थलों का दिग्दर्शन किया जा सकता है -

भास्वद्भास्वन्मणिमयबृहतुङ्गशृङ्गाग्रसंस्थाः

सम्प्रत्युद्यत्परिणतफलश्यामला वामभागे।^{१९}

यहाँ 'भास्वद्-भास्वद्' पदों की आवृत्ति हुई है। इनमें से प्रथम 'भास्वद्' पद का अर्थ है - 'चमकते हुए'। जब कि द्वितीय 'भास्वद्' पद 'मणि' के साथ संयुक्त होकर 'स्फटिकमणि' अर्थ का वाचक है। इस प्रकार यहाँ यमक अलङ्कार है।

उत्सर्पद्भिर्दधदिव दिवो वर्त्मनो वीचिसंधैः,

सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायग्रयायी।।^{२०}

इस काव्यांश में 'दिव-दिव' पदों की आवृत्ति हुई है। इनमें से प्रथम पद निरर्थक है तथा द्वितीय पद 'आकाश का' अर्थ का वाचक है। इस प्रकार यहाँ भी यमकालङ्कार की अलङ्कृति है।

अर्थालङ्कार

उपमा - उपमा सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का आधार है। इस अलङ्कार का स्वरूप आचार्य मम्मट ने इस प्रकार उद्घाटित किया है -

साधर्म्यमुपमा भेदे^{२१}

अर्थात् उपमान एवं उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन करना उपमा अलङ्कार कहलाता है।

अर्थालङ्कारों में से उपमा नेमिदूतकार का सर्वाधिक प्रिय अलङ्कार है। नेमिदूतम् में इस अलङ्कार की छटा सर्वत्र अनुस्यूत है। कुछ स्थल अवलोकनीय हैं -

पूर्णापमा -

वप्रप्रान्ते स्फुरति जलधेर्हारिवेलारमण्याः,

सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि॥^{२२}

इस श्लोकार्द्ध में समुद्र की तरङ्गयुक्त जलधारा को रमणी के कटाक्षयुक्त मुख की भाँति सुशोभित बतलाया गया है।

व्याप्याकाशं नवजलभृतां सन्निभो यो विभाति,

श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः॥^{२३}

यहाँ वेणु पर्वत की उपमा बलि को बाँधने के लिये तत्पर भगवान् वामन के साँवले चरण से दी गयी है।

या कालेस्मिन्भवनशिखरैः प्रक्षरद्वारि धत्ते,

मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवभ्रवृन्दम्॥^{२४}

‘जो द्वारिका नगरी वर्षाकाल में, भवनशिखरों से, जल बरसाने वाले मेघसमूह को उसी तरह धारण करती है, जैसे कोई सुन्दरी मोती की लड़ियों से गूँथे गये केशकलाप को धारण करती है।’ इस वाक्य में पूर्णापमा अलङ्कार की मधुर छटा है।

त्यक्त्वा लोलं नयनयुगलं तेरुणत्वं रुदत्या -

मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति॥^{२५}

प्रस्तुत पद्यार्द्ध में राजीमती के चञ्चल नयनयुगल का साधर्म्य नीलकमल से स्थापित किया गया है।

राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो,

मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः॥^{२६}

‘हे नाथ! पुनः वर्षाकालिक नूतन मेघ के साथ बिजली की तरह, राजीमती के साथ तुम्हारा पल भर भी वियोग न हो।’ यहाँ भी पूर्णोपमा का चित्ताकर्षक लावण्य विद्यमान है।

नेमिदूतम् के निम्नांकित स्थलों पर भी पूर्णोपमा अलङ्कार का चमत्कार दृष्टिगत होता है -

- ◆ संक्रीडन्ते शिशव इव येऽङ्गे समाधिस्थितस्य।^{२७}
- ◆ शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्।^{२८}
- ◆ नीलस्निग्धे क्षणमुपगते पुण्डरीकप्रभस्या।^{२९}
- ◆ रात्रिं संवत्सरशतसमां त्वत्कृते तप्तगात्री।^{३०}
- ◆ प्रावृट् प्रान्तं प्रिय! मम गता दुःखदा दुर्दशेव।^{३१}

लुप्तोपमा -

यं दृष्ट्वैताः पथिकवदनाम्भोजचन्द्रातपाऽऽभाः,
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥^{३२}
यहाँ बगुलियों का साधर्म्य चन्द्रज्योत्स्ना से स्थापित किया गया है।
प्रातस्तस्यां कुवलयदलश्यामलाङ्गे सलीला,
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर श्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्॥^{३३}

इस काव्यांश में नेमिनाथ के श्याम शरीर का साधर्म्य नीलकमल-पत्र से तथा उज्जयिनी की सुन्दरियों के लम्बे कटाक्षों का साधर्म्य भ्रमरपंक्ति से स्थापित किया गया है।

आकांक्षन्त्या मृदुकरपरिष्वङ्गसौख्यानि सख्याः
पश्यामुष्या मुखमनुदितं म्लानमस्मेरमश्रि।
उद्यत्तापात्कुमुदमिव ते कैरविण्या वियोगा -
दिन्दोर्देन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥^{३४}

प्रस्तुत पद्य में राजीमती की शोभाहीन मुखकान्ति को उत्कट ताप के कारण म्लान श्वेत कुमुदपुष्पों की भाँति बतलाया गया है।

नेमिदूतम् में लुप्तोपमा अलङ्कार के अन्य भी अनेक रम्य प्रयोग मिलते हैं, यथा-

- ◆आशाम्बरेण, स्निग्धश्यामाञ्जनचयरुचाऽऽसादिताभिन्नभावाः।^{३५}
- ◆ भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्या॥^{३६}
- ◆ वातोद्भूतैर्हसति सलिलैर्या शशाङ्काशुगौरैः।^{३७}

◆ प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः।^{३८}

◆ नीपामोदोन्मदमधुकरीगुञ्जनं गीतरम्यं,
केकावेणुक्वणितमधुराबर्हिणां चारुनृत्यम्।^{३९}

उत्प्रेक्षा - उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य मम्मट ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रकृत (उपमेय) की सम (उपमान) के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है -

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।^{४०}

नेमिदूतम् में उत्प्रेक्षा अलङ्कार के अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं, यथा -

भुक्त्वा भोगोपचयमवनिं नाकिनामागतानां,

शीषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्।^{४१}

यहाँ भगवान् वामन की नगरी उज्जयिनी में स्वर्ग के एक देदीप्यमान् खण्ड की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षालङ्कार की सृष्टि हुई है।

त्वत्संयोगान्नु धृतिसमेता नवघांगयष्टि -

र्या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।^{४२}

प्रस्तुत काव्यांश में निर्दोष अङ्गोंवाली राजीमती को, युवतियों के मध्य ब्रह्मा की प्रथम रचना-सी बतलाया गया है। इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार की मनहर छटा है।

दुर्ल्लघ्यत्वं शिखरिणी पयोधौ च गाम्भीर्यमुर्व्यां,

स्थैर्यं तेजः शिखिनि मदने रूपसौन्दर्यलक्ष्मीम्।

बुद्धे क्षान्तिं नृवर कलयामीति वृन्दं गुणानां,

हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति।^{४३}

‘हे नरश्रेष्ठ! मैं राजीमती पर्वत में तुम्हारे बड़प्पन, समुद्र में तुम्हारी गम्भीरता, पृथिवी में तुम्हारी स्थिरता, अग्नि में तुम्हारे तेज, कामदेव में तुम्हारे रूपलावण्य तथा बुद्ध में तुम्हारी क्षमा की सम्भावना करती हूँ।’ यहाँ पर्वत आदि में नेमिनाथ के गम्भीरता आदि गुणों की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

रूपक - रूपक सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। जिनके स्वरूप स्पष्टतः भिन्न-भिन्न हैं, ऐसे उपमेय और उपमान के अत्यधिक साम्य को दिखाने के लिये जो काल्पनिक अभेदारोप किया जाता है, वही रूपक अलङ्कार कहलाता है। आचार्य मम्मट के मतानुसार उपमान और उपमेय का अभेदवर्णन ही रूपक है -

तद्रूपकमभेदोय उपमानोपमेययोः।^{४४}

नेमिदूतम् के अनेक पद्यों में रूपकालङ्कार की मनोरम अलङ्कृति समाविष्ट है, यथा - 'मैक्यं प्राप्यासितरजनिषु प्रस्फुरद्रत्नदीपाः'^{४५} में रत्नों पर दीपों का अभेदारोप, किं मामेवं विरहशिखिनोपेक्ष्यसे दह्यमानाम्'^{४६} में वियोग पर अग्नि का अभेदारोप तथा 'स्वामिन्निर्वापय वपुरिदं स्वाङ्गसङ्गामृतेन'^{४७} में आलङ्गिन पर अमृत का अभेदारोप होने से निरङ्ग रूपक अलङ्कार है। अथ च, निम्नांकित काव्यांश में नदी पर वनिताओं का तथा चञ्चल मछलियों के उच्छलन पर चितवनों का भेदरहित आरोप होने से साङ्गरूपक अलङ्कार की सर्जना हुई है -

यः कामीव क्षणमपि सरित्कामिनीनां न शक्तो,
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि॥^{४८}

अर्थान्तरन्यास - यह गम्य औपम्याश्रित अर्थालङ्कार है। उसका निरूपण करते हुए काव्यप्रकाशकार ने कहा है कि सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से, साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से समर्थन करने को अर्थान्तरन्यास अलङ्कार कहते हैं- सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।

यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥^{४९}

नेमिदूतम् में कवि ने अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का प्रभूत प्रयोग किया है। कतिपय स्थल उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं -

तं सम्मोहाद् द्रुतमनुनयं शैलराजं ययाचे,
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥^{५०}

इन पंक्तियों में 'राजीमती ने चित्र की विकलता के कारण पर्वतराज रैवतक से शीघ्र याचना की' इस विशेष कथन का, 'कामपीडित व्यक्ति चेतन और जड़ के विषय में दीन (विवेकशून्य) होते हैं' इस सामान्य कथन से समर्थन किया गया है।

कवि के अर्थान्तरन्यास-विन्यास में लौकिक अनुभवों की अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है, यथा -

त्वामायान्तं पथि यदुवराः केशवाद्याः निशम्य,
प्रीता बन्धूंस्तव पितृमुखान्सौहृदान्द्रन्दयन्तः।
साकं सैन्यै रथमभिमुखं प्रेषयिष्यन्ति तूर्ण,
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥^{५१}

प्रस्तुत पद्य में 'यदुश्रेष्ठ केशवादि मार्ग में तुम्हारे (नेमिनाथ के) आगमन को सुनकर, प्रसन्न हों, तुम्हारे पिता आदि प्रमुख जनों तथा मित्रों को सेना एवं रथ सहित भेजेंगे' इस विशेष कथन का समर्थन, 'मित्रों के कार्यों को प्रारम्भ कर देने वाले व्यक्ति

निश्चय ही (बीच में) ढीले नहीं पड़ते हैं' इस सामान्य कथन से किया गया है। अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के प्रयोगों में ग्रन्थकार ने अनेक सूक्तियों का समावेश कर दिया है। यथा निम्नोद्धृत श्लोकार्द्ध में एक साथ दो सूक्तियाँ समाविष्ट हैं -

स्नेहादेते न खलु मुखरा याचिताः सम्भवन्ति,
प्रयुक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव॥^{५२}

अर्थात् सज्जनों से याचना करने पर वे स्नेह के कारण वाचाल नहीं होते हैं, क्योंकि याचकों के अभिलषितार्थ का सम्पादन ही सज्जनों का प्रत्युत्तर हुआ करता है।

उक्त स्थलों के अतिरिक्त **नेमिदूतम्** में अर्थान्तरन्यास के अन्य प्रयोग भी 'मनोहर हैं'^{५३}

काव्यलिङ्ग - अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक के अनुसार काव्यलिङ्ग तर्कन्यायमूलक अर्थालङ्कार है। इसका विवेचन करते हुए कविराज विश्वनाथ ने कहा है कि वाक्यार्थ अथवा पदार्थ जहाँ किसी का हेतु हो वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है -

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते।^{५४}

नेमिदूतम् में अनेक स्थलों पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार का सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है, यथा -

त्वां याचेऽहं न पथि भवता क्वापि कार्यो विलम्बो,

गन्तव्यातः सपदि नगरी स्वायतः सा त्वदम्बा।

मुक्ताहारा सजलनयना त्वद्वियोगार्तिदीना,

काश्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥^{५५}

इस पद्य के उत्तरार्द्ध का वाक्यार्थ, पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ का हेतु है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

तस्यादेया स्वशयविहिता सत्क्रिया ते न चेत्स,

प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः॥^{५६}

यहाँ, 'बलभद्र के मन्त्रियों के हाथों से की गई वस्त्रादि पूजा को तुम ग्रहण कर लेना' इस वाक्यार्थ का हेतु - 'यदि मन्त्री के सत्कार को तुमने स्वीकार नहीं किया तो तुम्हारे द्वारा रोके जाने पर वे अत्यधिक क्रुद्ध हो जायेंगे' यह चतुर्थ चरण का वाक्यार्थ है।

इसी प्रकार समीक्ष्य कृति में ग्रन्थकार ने अन्यत्र भी काव्यलिङ्ग अलङ्कार के प्रयोग किये हैं,^{५७} जो अतीव भावप्रवण हैं।

प्रतीप - प्रतीप लोकन्यायमूलक अर्थालङ्कार है। इसका विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट किया है कि प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाना या उसको निष्फल बताना प्रतीप अलङ्कार कहलाता है -

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।

निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते।^{५८}

प्रतीप अलङ्कार के विन्यास में नेमिदूतकार सिद्धहस्त हैं। इस काव्य के अनेक पद्यों में प्रतीप अलङ्कार का चमत्कार विद्यमान है, यथा -

शोभासाम्यं कलयति मनाग्नालका नाथ यस्याः,

बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका-धौतहर्म्या।^{५९}

यहाँ द्वारिकापुरी की कान्ति की तुलना में कुबेर की अलकापुरी को तुच्छ बतलाया गया है।

कुर्वन्नब्दः किल कलुषतां मार्गणैः प्रागरीणां,

धरापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि।^{६०}

‘जहाँ मेघ कमलों पर उसी प्रकार मूसलाधार वर्षा करेगा जैसे कि तुमने (नेमिनाथ ने) पहले शत्रुओं के मुखों पर बाणवर्षा की थी’ इस वाक्यार्थ में प्रसिद्ध उपमान (मेघवृष्टि) को उपमेय बनाया गया है। अतः यहाँ प्रतीप अलङ्कार की शोभा विद्यमान है।

इसी प्रकार निम्नोद्धृत पद्य में प्रसिद्ध उपमानों - काशपुष्प समूह, श्वेतकमलसमूह तथा शरत्कालीन राजहंसों की शोभा को उपमेय; अथ च नेमिनाथ के पार्श्वभाग में डुलाये जाते हुए चँवरों, उनके श्वेत छत्र और निर्मल यश को उपमान बनाकर प्रस्तुत किया गया है -

उद्यद्बालव्यजनमनिलोल्लासिकासप्रसूनाः,

श्वेतच्छत्रं विकसितसिताम्भोजभाजो विलोक्य।

तस्यां पौरा विशदयशसं न श्रियः शारदीना,

नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्यहंसाः।^{६१}

अर्थापत्ति - अर्थापत्ति वाक्यन्यायमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य विश्वनाथ ने अर्थापत्ति का लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है -

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।^{६२}

अर्थात् ‘दण्डापूपिका’ न्याय से दूसरे अर्थ का ज्ञान होने पर अर्थापत्ति अलङ्कार होता है।

६८ : श्रमण, वर्ष ५६, अंक ७-९/जुलाई-सितम्बर २००४

विवेच्य कृति में अनेक स्थलों पर^{६३} अर्थापत्ति अलङ्कार का सौन्दर्य परिलक्षित होता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥^{६४}

‘निर्दय दैव स्वप्न में भी हम दोनों (राजीमती और नेमिनाथ) के मिलन को सहन नहीं करता’ यहाँ ‘तस्मिन्नपि’ पद से जाग्रत् अवस्था के अर्थापन्न होने के कारण अर्थापत्ति अलङ्कार है।

उदात्त - आचार्य विश्वनाथ ने **साहित्यदर्पण** के दशम परिच्छेद में उदात्त अलङ्कार का स्वरूप प्रकाशित करते हुए कहा है -

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते।

यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्॥^{६५}

अर्थात् लोकोत्तर सम्पत्ति का वर्णन होने पर तथा महापुरुषादि का चरित प्रस्तुत वस्तु का अङ्ग होने पर उदात्त अलङ्कार होता है।

नेमिदूतकार ने उदात्त अलङ्कार के विनियोग में पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। कतिपय काव्यांश प्रस्तुत हैं -

अत्रात्युग्रैः किल मुनिवरो वामनः प्राक्तपोभि -

र्लब्ध्वा सिद्धिं सकलभुवनव्यापिना विग्रहेण।

ईशं वासं भुजगसदने प्रापयच्छानवाना -

मित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥^{६६}

यहाँ भगवान् वामन का चरित अवन्तिवर्णन का अङ्ग है। अतः इस पद्य में उदात्त अलङ्कार है।

सौधश्रेणीर्विततविलसत्तोरणान्तर्व्यतीत्य,

स्वावासं तं मणिचयरुचा भासुर् प्राप्स्यसि त्वम्॥^{६७}

प्रस्तुत श्लोकार्द्ध में नेमिनाथ के द्वारिकास्थित निवासगृह की लोकोत्तर सम्पत्ति का वर्णन होने से उदात्त अलङ्कार है।

इसी प्रकार कवि ने **नेमिदूतम्** में उदात्त अलङ्कार की अन्यत्र भी योजना की है,^{६८} जो उपर्युक्त स्थलों के सदृश ही भावपूर्ण है।

स्वभावोक्ति - स्वभावोक्ति गूढार्थप्रतीतिमूलक अर्थालङ्कार है। काव्यप्रकाशकार ने इसका विवेचन इन शब्दों में किया है -

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।^{६९}

अर्थात् बालक आदि की अपनी स्वाभाविक क्रिया अथवा रूप (वर्ण एवं अवयव संगठन) का वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार कहलाता है।

कविविक्रमकृत स्वभावोक्ति-प्रयोगों में यथार्थता तथा सजीवता के दर्शन होते हैं। इनमें प्रकृति के सुन्दर चित्र अंकित किये गये हैं। एक वर्णन प्रस्तुत है -

तस्मिन्नुच्चैर्दलितलहरीसीकरासारहारी,
वाराराशेस्तटजविकसत्केतकामोदरम्यः।
खेदं मार्ग क्रमणजनितं ते हरष्यित्यजस्रं,
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्॥^{७०}

‘उस वेला तट पर उत्पन्न होने वाले केतकी पुष्पों के मकरन्द से सुगन्धित, ताडित लहरों के जलकणों की तीव्र वर्षा से रुचिकर, वन के गूलरों को पकाने वाला, कोलाहल करता हुआ समुद्र का शीतल पवन निरन्तर तुम्हारे मार्गजन्म श्रम को दूर करेगा।’ यहाँ सागर-पवन की स्वाभाविक क्रियाओं का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलङ्कार है। इसी प्रकार कवि ने कतिपय अन्य पद्यों में^{७१} भी इस अलङ्कार का चित्कार्षक विन्यास किया है।

समुच्चय - समुच्चय वाक्यन्यायमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य मम्मट के अनुसार कार्य की सिद्धि का एक हेतु विद्यमान रहने पर भी जहाँ अन्य हेतु भी उसका साधक हो जाता है, वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है।

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्। समुच्चयोऽसौ॥^{७२}

नेमिदूतम् में की गई समुच्चय अलङ्कार की सज्जा से कवि की निपुणता प्रदर्शित होती है। एक पद्य उदाहरणार्थ प्रस्तुत है -

एणांकाशमावनिषु शिशिरे कुङ्कुमादैः पदाङ्कैः,
शीनोत्कम्पाद्गतिविगलितैर्वालकैः केशपाशात्।
भ्रष्टैः पीनस्तनपरिसराद्रोध्रमाल्यैश्च यस्यां,
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥^{७३}

‘जिस द्वारिका में अभिसारिकाओं का रात्रिमार्ग सूर्य के निकलने पर शरदकाल में शीत की कँपकँपी से युक्त गति के कारण केशपाश से गिरे हुए पुष्पों से, स्थूल कुचप्रदेश से टूटकर गिरे हुए लोध्रपुष्प-हारों से तथा चन्द्रकान्तमणिमय फर्श पर कुंकुमाद्रं चरणचिह्नो से सूचित होता है।’ इस पद्य में रात्रिमार्ग के सूचक एक हेतु के विद्यमान रहने पर भी दो अन्य हेतु भी साधक हो गये हैं। अतः यहाँ समुच्चय अलङ्कार है। कवि ने **नेमिदूतम्** में कतिपय अन्य स्थलों पर^{७४} भी इस अलङ्कार का रमणीय प्रयोग किया है।

समासोक्ति - यह गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। समासोक्ति शब्द का अर्थ है - 'समासेन (संक्षेपेण) उक्तिः' श्लेषयुक्त विशेषणों के द्वारा अप्रकृत के व्यवहार का कथन समासोक्ति अलङ्कार कहलाता है -

परोक्तिर्भेदकैः शिलष्टैः समासोक्तिः।

नेमिदूतम् के एक पद्य में समासोक्ति अलङ्कार की सुषमा दर्शनीय है -

यस्यां सान्द्रानुपवनलतावेश्मसु स्वेदबिन्दून्,

मुष्णान्गत्सुरतजनितानुज्जयन्तीं विगाह्य।

कुर्वन्तीरे विगलितपटाः सेवते वारनारीः,

शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारी॥^{६६}

यहाँ शिप्रावती के पवन पर प्रेमी के व्यवहार का आरोप होने से समासोक्ति अलङ्कार है। **नेमिदूतम्** के एक अन्य पद्य में भी^{७७} समासोक्ति अलङ्कार का सौन्दर्य अवलोकनीय है।

विशेषोक्ति - विशेषोक्ति विरोधमूलक अर्थालङ्कार है। ध्वनि प्रस्थापन के परमाचार्य मम्मट ने कहा है कि सम्पूर्ण कारणों के होने पर भी फल (कार्य) का कथन न करना विशेषोक्ति अलङ्कार होता है -

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।^{७८}

नेमिदूतम् में दो स्थलों पर^{७९} विशेषोक्ति अलङ्कार स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ प्रतीप अलङ्कार के प्रसङ्ग में उद्धृत पद्य 'उद्यद्बालव्यजन'^{८०} में काशपुष्पसमूह, श्वेतकमल समूह तथा राजहंसों की शोभा का दर्शन, स्मरण का कारण है तथापि स्मरणरूप कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार की सृष्टि हुई है।

व्यतिरेक - व्यतिरेक गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने इसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्यूनताथ वा।^{८१}

अर्थात् उपमान से उपमेय का आधिक्य अथवा उपमान से उपमेय की न्यूनता का वर्णन होने पर व्यतिरेक अलङ्कार होता है।

कवि विक्रम द्वारा किये गये व्यतिरेक अलङ्कार के प्रयोगों में सहृदयहृदयाह्लादकता है। एक पद्य द्रष्टव्य है -

त्वदरूपेणापहतमनसो विस्मयात्पौरनार्यः,

सौन्दर्याधःकृत-मनसिजो राजमार्गं प्रयाति।^{८२}

यहाँ नेमिनाथ के सौन्दर्य की तुलना में उपमानस्वरूप कामदेव के सौन्दर्य की न्यूनता वर्णित होने से व्यतिरेक अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त एक अन्य पद्य में^{८३} भी व्यतिरेक अलङ्कार का मनोरम प्रयोग हुआ है।

विषम - विषम विरोधमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार यदि कार्य और कारण के गुण या क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध हों अथवा आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्ण न हो, प्रत्युत कुछ अनर्थ आ पड़े अथवा दो विरूप पदार्थों का मेल हो तो वहाँ विषम अलङ्कार होता है -

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः।

यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः॥

विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्।^{८४}

नेमिदूतम् के निम्नोद्धृत पद्य में विषम अलङ्कार की सराहनीय अन्विति हुई है-
रम्याहर्म्यैः क्व तव नगरी दुर्गशृङ्ग क्व चाद्रिः,
क्वैतत्काम्यं तव मृदुवपुः क्व व्रतं दुःखचर्यम्।^{८५}

‘कहाँ तो धनिकों के गृहों से मनोहर तुम्हारी द्वारिका नगरी और कहाँ विषम शिखर वाला पर्वत? कहाँ तुम्हारा यह कोमल सुन्दर शरीर और कहाँ दुःखपूर्वक आचरणीय तुम्हारी तपस्या?’ इस प्रकार दो विरूप पदार्थों की संघटना होने से यहाँ विषम अलङ्कार है।

तुल्ययोगिता - यह गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य मम्मट के अनुसार नियत (केवल प्राकृत अथवा केवल अप्रकृत अर्थों) का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है -

नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता।^{८६}

नेमिदूतम् में एक स्थान पर तुल्ययोगिता अलङ्कार का आकर्षक विनियोग हुआ है -

यस्यां पुष्पोपचयममलं भूषणं सीधुहृद्यं,

गन्धद्रव्यं वसननिवहं सूक्ष्ममिच्छानुकूलम्।

न्यस्तः प्रीत्या त्रिदशपतिना वासुदेवस्य वेश्म-

न्येकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः॥^{८७}

यहाँ अनेक प्रस्तुतों (आभूषण, गन्धद्रव्य तथा वस्त्रसमूह) का एक धर्म (सूते) से सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलङ्कार है।

स्मरण - स्मरण सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य विश्वनाथ ने इसकी परिभाषा इन शब्दों में प्रतिपादित की है -

सदृशानुभवाद्बस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते।^{८८}

अर्थात् किसी सदृश वस्तु के स्मरण का वर्णन करने से स्मरण अलङ्कार होता है। स्मरण अलङ्कार की अलङ्कृति में कवि विक्रम ने विशेष रुचि नहीं ली है। **नेमिदूतम्** में स्पष्टतः इस अलङ्कार का एक ही प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जो निम्नांकित है -

पुष्पाकीर्णं पुरि सह तदा यस्त्वया राजमार्ग,
यास्यत्युद्यद् ध्वजनिवसनं चन्दनाम्बरछटाङ्कम्।
शौरिं पीताम्बरधरमनु क्षमाधरे मेघमेनं,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि।^{८९}

मेघ का कृष्ण से तथा विद्युत् का पीताम्बर से सादृश्य है। अतः मेघ को देखकर कृष्ण का स्मरण होने से यहाँ स्मरण अलङ्कार है।

अपहृति - अपहृति आरोपमूलक अभेदप्रधान अर्थालङ्कार है। इसका लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं कि प्रकृत का निषेध करके जो अन्य (अप्रकृत) की सिद्धि की जाती है, वह अपहृति अलङ्कार होता है -

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपहृतिः।^{९०}

वस्तुतः अपहृति शब्द का अर्थ है छिपाना। अतः इस अलङ्कार में उपमेय को छिपाने या उसका निषेध करने का कथन आवश्यक है।

विवेच्य कृति में मात्र एक स्थान पर ही अपहृति अलङ्कार की योजना हुई है, जो इस प्रकार है -

कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छन्नानास्याः।^{९१}

अर्थात् बलभद्र दोहद के बहाने से द्वारिकावासिनी नारियों की मुखमदिरा को पीना चाहता है। यहाँ 'छन्नाना' पद के द्वारा दोहद के स्वरूप का अपहृव किये जाने से अपहृति अलङ्कार है।

निदर्शना - निदर्शना गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ वस्तु का असम्भव सम्बन्ध (प्रकृत की अप्रकृत के साथ) उपमा का परिकल्पक होता है वहाँ निदर्शना अलङ्कार माना गया है -

निदर्शना। अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः।^{९२}

नेमिदूतम् में निदर्शना अलङ्कार का एक प्रयोग दर्शनीय है -

उद्यत्तापात्कुमुदमिव ते कैरविण्णया वियोगा -
दिन्दोर्देन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥^{९३}

यहाँ 'राजीमती की शोभाहीन मुखकान्ति चन्द्र की दीनदशा को धारण करती है' इस वाक्यार्थ का पर्यवसान 'राजीमती की मुख-कान्ति चन्द्र के समान है' इस प्रकार उपमा में हो जाता है। अतः यहाँ निदर्शना अलङ्कार की छटा है।

पर्याय - यह वाक्यन्यायमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य विश्वनाथ का मत है कि जहाँ एक वस्तु अनेकों में अथवा अनेक वस्तु एक में क्रम से हों या की जायें, वहाँ पर्याय अलङ्कार होता है -

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते॥^{९४}

कवि विक्रम ने केवल एक पद्य में पर्याय अलङ्कार का नियोजन किया है, जो इस प्रकार है -

नीपामोदोन्मदमधुकरीगुञ्जनं गीतरम्यं, केका वेणुक्वणितमधुराबर्हिणां चारुनृत्यम्।
श्रोत्रानन्दीमुरजनिनदस्त्वत्रयाणं यदिस्या-त्संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥^{९५}

प्रस्तुत पद्य में भ्रमरों की गुञ्जार, मयूरध्वनि तथा मयूरनृत्य के एक वस्तु (संगीत) में होने से पर्याय अलङ्कार है

परिसंख्या - परिसंख्या वाक्यन्यायमूलक अर्थालङ्कार है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार कुछ पूछा हुआ या न पूछा हुआ, कहाँ जाकर, जो कि उसके समान अन्य के निषेध के लिये कल्पित किया जाता है, वह परिसंख्या मानी गयी है -

किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥^{९६}

परिसंख्या अलङ्कार के उदाहरण के रूप में नेमिदूतम् का एक स्थल अवलोकनीय है -

व्याधिर्देहान्स्पृशति न भयाद्रक्षितुः शार्ङ्गपाणे -
मृत्योर्वात्ता श्रवणपथगा कुत्रचिद्वासभाजाम्।
कामक्रीडारससुखजुषां यच्छतामर्थिकामा -
न्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥^{९७}

इस पद्य में 'द्वारिकावासी कहीं-कहीं कथाप्रसंगादि में ही मृत्युवार्ता का श्रवण करते हैं' इससे 'रोगादि के कारण अकालमृत्यु नहीं होती' यह अभिप्राय होने से परिसंख्या अलङ्कार है।

अनुमान - अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक के अनुसार अनुमान तर्कन्यायमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य विश्वनाथ ने हेतु के द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान को अनुमान अलङ्कार कहा है -

अनुमानं तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्।^{१८}

नेमिदूतम् के पूर्वोद्धृत पद्य 'एणांकाशमावनिषु... नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥'^{१९} में हेतु (केशपाश से गिरे हुए पुष्प, लोभ्रपुष्पहार तथा चरणचिह्न) के द्वारा साध्य (नैशमार्ग) का चमत्कारपूर्ण ज्ञान होने से अनुमान अलङ्कार है।

परिकर - परिकर गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। इसकी परिभाषा साहित्यदर्पणकार ने इन शब्दों में प्रस्तुत की है -

उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।^{१००}

अर्थात् कहे हुए विशेषण यदि विशेष अभिप्राय का बोधन करते हों तो परिकर अलङ्कार होता है।

नेमिदूतम् के निम्नांकित काव्यांश में परिकर अलङ्कार का लावण्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है -

वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः॥^{१०१}

'हे संग्राम में धीर! अब जैसे यह राजीमती उसी विरहजन्य दीनता को छोड़े, वैसे इससे सत्य एवं गम्भीर वचनों से वक्तव्य प्रारम्भ करो।' यहाँ 'धीर' पद की योजना का अभिप्राय यह है कि नेमिनाथ राजीमती को भलीभाँति समझायें, क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः भीरु होती हैं। तब जो स्वयं 'धीर' नहीं होगा वह दूसरे को धैर्य कैसे बँधायेगा?

भाविक - भाविक गूढार्थप्रतीतिमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार भूत या भविष्यत् किसी अद्भुत पदार्थ को प्रत्यक्षवत् अनुभव करने पर भाविक अलङ्कार होता है -

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः॥

यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्।^{१०२}

उदाहरणार्थ **नेमिदूतम्** के, उदात्त अलङ्कार के प्रसंग में उद्धृत पद्य 'अत्रात्युग्रैः किल०'^{१०३} में, अवन्ति नगरी की भूतकालीन अद्भुत घटनाओं का प्रत्यक्षवत् वर्णन होने से, भाविक अलङ्कार है।

अतिशयोक्ति - अतिशयोक्ति अध्यवसायमूलक अभेद-प्रधान अर्थालङ्कार है। इसमें लोकमर्यादा का उल्लंघन करने वाली उक्ति (अतिशय+उक्ति) होती है। विश्वनाथ कविराज का कथन है कि 'अध्यवसाय' के सिद्ध हो जाने पर अतिशयोक्ति अलङ्कार

होता है। उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण होने से दोनों में अभेद का जो ज्ञान होता है उसे 'अध्यवसाय' कहते हैं -

सिद्धत्वेध्यऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते॥

विषयनिगरणेनाभेद प्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः।^{१०४}

कवि ने एक स्थान पर अतिशयोक्ति अलङ्कार की अतीव रमणीय योजना की है-
वाणस्याजौहरविजयिनोवासुदेवस्य यस्यां, प्राप्यासत्तिं चरति गतभीः पुष्पचापो निरस्त्रः।
यस्माद्धेला कृतयुवमनोमोहनाप्तप्रकर्षे - स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः॥^{१०५}

इस पद्य में कामदेव के धनुर्धारण का सम्बन्ध होने पर भी उसके असम्बन्ध की उक्ति से भेदकातिशयोक्ति अलङ्कार है।

दृष्टान्त - दृष्टान्त गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। साहित्यदर्पणकार ने इसका निरूपण करते हुए कहा है कि दो वाक्यों में धर्मसहित वस्तु (उपमान-उपमेय) के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्त अलङ्कार कहते हैं -

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनऽ प्रतिबिम्बनम्।^{१०६}

नेमिदूतम् में एक स्थान पर स्पष्टतः दृष्टान्त अलङ्कार का विनियोग परिलक्षित होता है, जो इस प्रकार है -

यन्निःश्रीकं हरति न मनस्त्वां विना यादवेन्दो,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्॥^{१०७}

इस काव्यांश में -

◆ 'वासुगृह तथा राजीमती दोनों तुम्हारे (नेमि के) बिना श्रीरहित होकर सज्जनों का मन आकृष्ट नहीं करते हैं' उपमेयवाक्य है।

◆ 'सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल अपनी शोभा को धारण नहीं करता है'- उपमानवाक्य है।

दोनों वाक्यों में धर्मसहित उपमानोपमेय का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त अलङ्कार है।

विनोक्ति - विनोक्ति गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार है। आचार्य मम्मट ने इसका स्वरूप इन शब्दों में प्रतिपादित किया है -

विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः।^{१०८}

अर्थात् जहाँ दूसरे के बिना दूसरा अर्थ सुन्दर न हो अथवा असुन्दर न हो (अपितु शोभन हो) - वह दो प्रकार की विनोक्ति होती है।

उदाहरणार्थ **नेमिदूतम्** के पूर्वोद्धृत काव्यांश - 'यन्निःश्रीकं हरति न मनस्त्वां विना यादवेन्दो'^{१०९} में नेमिनाथ के बिना वासगृह तथा राजीमती सुन्दर नहीं हैं (श्रीरहित हैं)। अतः यहाँ विनोक्ति अलङ्कार है।

संसृष्टि - संसृष्टि गूढार्थ प्रतीति मूलक अलङ्कार है। आचार्य मम्मट ने इसका निरूपण करते हुए कहा है कि दो या दो से अधिक अलङ्कारों की काव्य या वाक्य में भेद (परस्परनिरपेक्षरूप) से जो स्थिति है वह संसृष्टि अलङ्कार मानी गयी है -

सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः।^{११०}

कवि विक्रम ने संसृष्टि अलङ्कार के प्रयोग में पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। उन्होंने **नेमिदूतम्** के एक-एक पद्य में दो-दो या तीन-तीन अलङ्कारों का संश्लेष करके संसृष्टि अलङ्कार की सृष्टि की है। कतिपय स्थल उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत हैं -

(क) शब्दालङ्कार - अर्थालङ्कार - संसृष्टि -

तां दुःखार्तां शिशिरसलिलासारसारैः समीरै - राश्रास्येव स्फुटितकुटजामोदमत्तालिनादैः।

साध्वीमद्रिः पतिमनुगतां तत्पदन्यासपूतः, प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार।^{१११}

इस पद्य में प्रयुक्त 'आश्रास्येव' पद से उत्प्रेक्षा, 'शिशिरसलिला - सारसारैः' से छेकानुप्रास तथा 'प्रीतः प्रीति प्रमुखवचनम्' से वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार स्पष्ट होता है। इस प्रकार यहाँ अनुप्रास एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कारों की तिलतण्डुलवत् परस्परनिरपेक्षरूप से अवस्थिति होने के कारण संसृष्टि अलङ्कार है।

इसी प्रकार **नेमिदूतम्** के अन्य पद्यों में भी शब्दार्थालङ्कारों की संसृष्टि निम्नवत् दर्शनीय है -

◆ उत्प्रेक्षा-अनुप्रास^{११२} तथा

◆ काव्यलिङ्ग - अनुप्रास^{११३}

(ख) अर्थालङ्कारो की संसृष्टि -

अन्तस्तापन् मृदुभुजयुगं ते मृणालस्य दैन्यं,

म्लानं चैतन्मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य धत्ते।

प्लुष्टः श्वासैर्विरहशिखिना सद्वितीयस्तवायं

यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्।^{११४}

प्रस्तुत पद्य के पूर्वाद्ध से निदर्शना, 'विरहशिखिना' पद से रूपक तथा 'कदलीस्तम्भगौरः' पद से लुप्तोपमा अलङ्कार स्पष्ट होता है। इस प्रकार तीन अर्थालङ्कारों की परस्पर स्थिति होने से यहाँ संसृष्टि अलङ्कार की सृष्टि हुई है।

नेमिदूतम् के अन्य पद्यों में अर्थालङ्कारों की संसृष्टि इस प्रकार देखी जा सकती है-

- ◆ उत्प्रेक्षा - अर्थापत्ति, ११५
- ◆ रूपक - काव्यलिङ्ग, ११६
- ◆ रूपक - उदात्त, ११७
- ◆ रूपक - उपमा, ११८
- ◆ रूपक - उत्प्रेक्षा, ११९
- ◆ उपमा - प्रतीप, १२०
- ◆ उपमा - अर्थान्तरन्यास, १२१
- ◆ उपमा - उत्प्रेक्षा, १२२
- ◆ काव्यलिङ्ग - उपमा^{१२३} तथा
- ◆ उपमा - उत्प्रेक्षा - प्रतीप।^{१२४}

सङ्कर - सङ्कर गूढार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कार है। दो या अधिक अलङ्कारों की, जल और दुग्ध के समान, परस्पर सापेक्षभाव से एकत्र स्थिति ही सङ्कर अलङ्कार कहलाती है। सङ्कर अलङ्कार तीन प्रकार का होता है - (क) अङ्गाङ्गिभावसङ्कर, (ख) सन्देहसङ्कर तथा (ग) एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर, जैसा कि आचार्य विश्वनाथ का कथन है-
अङ्गाङ्गित्वेऽलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।

संदिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः॥^{१२५}

अर्थात् सङ्कर तीन प्रकार का होता है - (क) जहाँ कई अलङ्कारों में अङ्ग-अङ्गि भाव हो, (ख) जहाँ एक ही आश्रय में (शब्द या अर्थ) में अनेक अलङ्कारों की स्थिति हो एवं (ग) जहाँ कई अलङ्कारों का सन्देह होता हो।

सङ्कर अलङ्कार के प्रयोग में भी कवि विक्रम ने वही दृष्टि अपनायी है, जो संसृष्टि अलङ्कार के विन्यास में अपनायी है। नेमिदूतम् के एक-एक पद्य में दो-दो या तीन-तीन अलङ्कारों का परस्पर सापेक्षभाव से गुम्फन करके उन्होंने सङ्कर अलङ्कार की सज्जा की है। कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं -

जहोः पुत्री तदनुदधतीं तामिवेर्ष्यां सपत्न्याः

शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥^{१२६}

‘गङ्गा ने इस पार्वती से, सपत्नीभाव के कारण, ईर्ष्या करते हुए मानो (शिव के मस्तक पर स्थित) चन्द्रमा पर लहर रूपी हाथ रखकर शिव के केशों को पकड़ लिया’ - यहाँ उत्प्रेक्षा एवं रूपक अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने के कारण सङ्कर अलङ्कार है।

इत्युक्तेऽस्या वचनविमुखं मुक्तिकान्तानुरक्तं,
दृष्ट्वा नेमिं किल जलधरः सन्निधौ भूधरस्थः।
तत्कारुण्यादिव नवजलाश्राणुविद्धां स्म धत्ते,
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्॥^{१२७}

इस पद्य में रूपक (मुक्तिकान्तानुरक्तं), उत्प्रेक्षा (तत्कारुण्यादिव) एवं उपमा (खद्योतालीविलसितनिभाम्) अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने के कारण सङ्कर अलङ्कार है।

योगसक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री।^{१२८}

प्रस्तुत चरण में प्रयुक्त 'सजलजलदश्यामलं' पद में लुप्तोपमा एवं छेकानुप्रास अलङ्कारों छटा विद्यमान होने से एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है।

नेमिदूतम् के अन्य स्थलों पर भी सङ्कर अलङ्कार का लावण्य दृष्टिगोचर होता है, यथा -

- ◆ अनुप्रास - उपमा,^{१२९}
- ◆ उपमा - काव्यलिङ्ग,^{१३०}
- ◆ अर्थान्तरन्यास - अर्थापत्ति,^{१३१}
- ◆ रूपक - अर्थान्तरन्यास,^{१३२}
- ◆ अनुप्रास - अर्थान्तरन्यास,^{१३३}
- ◆ उपमा - काव्यलिङ्ग,^{१३४}
- ◆ अर्थान्तरन्यास - काव्यलिङ्ग,^{१३५}
- ◆ उत्प्रेक्षा - अनुप्रास^{१३६} एवं
- ◆ उदान्त - उत्प्रेक्षा।^{१३७}

निष्कर्ष

इस प्रकार नेमिदूतम् में प्रयुक्त विविध शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों के समीक्षण से यह तथ्य भलीभाँति प्रमाणित होता है कि कवि विक्रम अलङ्कारसज्जा में अत्यन्त निपुण हैं। उन्होंने इस कृति में - अर्थान्तरन्यास, उपमा, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग, उदान्त, प्रतीप एवं अर्थापत्तिलङ्कारों के विन्यास में अधिक रुचि ली है। शब्दालङ्कारों में से उन्होंने मात्र अनुप्रास अलङ्कार का ही बहुलता के साथ विनियोग किया है।

कवि की इस अलङ्कार-प्रस्तुति के विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने एक-एक पद्य में दो, तीन या चार अलङ्कारों का संश्लेषण एक साथ कर दिया है तथापि पद्य का मूल भाव एवं बाह्य शिल्प पूर्णतः अक्षुण्ण रहा है। इसके परिणामस्वरूप नेमिदूतम् का अलङ्कारलावण्य सहृदयवृन्द को चमत्कृत एवं आह्लादित करने में

सफल रहा है। यही कारण है कि अपने अलङ्कृत काव्यशिल्प द्वारा **नेमिदूतम्** ने दूतकाव्यपरम्परा में महती प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा अर्जित की है।

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

नेमिदूतम् (कविविक्रम), प्रधानसम्पादक - डॉ० सागरमल जैन, व्याख्याकार- धीरेन्द्र मिश्र, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९९४ ई०।

काव्यप्रकाश (मम्मट), व्या० - आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी १९६० ई०।

साहित्यदर्पण (विश्वनाथ), व्या० - शालिग्रामशास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली १९८६ ई०।

अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक), सम्पा० - रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।

मेघदूतम् (कालिदास), व्या० - रमाशंकर त्रिपाठी, वि०वि० प्रकाशन, वाराणसी १९८१ ई०।

जैनमेघदूतम् (अंचलगच्छीय आचार्य मेरुतुङ्ग), सम्पा० - डॉ० सागरमल जैन, व्या० - डॉ० रविशंकर मिश्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी १९८९ ई०।

अलङ्कारदीप - डॉ० के०के० आनन्द, नूतन प्रकाशन, हाथरस १९७० ई०।

सन्दर्भ :

१. श्रीमन्नेमेश्वरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा.....॥ - **नेमिदूतम्**, १२६।
२. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ - **काव्यप्रकाश**, ८/६७।
३. ये वाचक-वाच्य-लक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः। - तदेव, ८/६७ पर वृत्ति।
४. यत्र तु नास्ति रमस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः। - तदेव।
५. **साहित्यदर्पण**, १०/३।
६. **नेमिदूतम्**, २३।
७. तदेव, २८।
८. तदेव, २९।
९. तदेव, ३७।
१०. तदेव, ७६।
११. तदेव, १००।
१२. तदेव, २६।
१३. तदेव, २७।
१४. तदेव, ४३।
१५. **साहित्यदर्पण**, १०/११।
१६. **नेमिदूतम्**, १७।
१७. तदेव, ३०।
१८. **साहित्यदर्पण**, १०/८।

१९. नेमिदूतम्, ५६।
 २१. काव्यप्रकाश, १०/८७।
 २३. तदेव, ६१।
 २५. नेमिदूतम्, १०२।
 २७. तदेव, २२।
 २९. तदेव, ६३।
 ३१. तदेव, ११८।
 ३३. नेमिदूतम्, ३९।
 ३५. तदेव, ११।
 ३७. तदेव, ४९।
 ३९. तदेव, ६०।
 ४१. नेमिदूतम्, ३२।
 ४३. तदेव, १११।
 ४५. नेमिदूतम्, ४०।
 ४७. तदेव, ११६।
 ४९. काव्यप्रकाश, १०/१०९।
 ५१. नेमिदूतम्, ४२।
 ५३. तदेव, ६, २१, ५७, ५८, ९४,
 १०७, १२०, १२४।
 ५५. नेमिदूतम्, ३१।
 ५७. तदेव, ७५, ८१, ९२, ९३ तथा ११५।
 ५९. नेमिदूतम्, ७।
 ६१. तदेव, ८३।
 ६३. नेमिदूतम्, १०, १३, १४, २४।
 ६५. साहित्यदर्पण, १०/९४-९५।
 ६७. तदेव, ८६।
 ६९. काव्यप्रकाश, १०/१११।
 ७१. तदेव, ८२, ९५।
 ७३. नेमिदूतम्, ८०।
 ७५. काव्यप्रकाश, १०/९७।
 ७७. तदेव, ४५।
 ७९. नेमिदूतम्, ८३, १०५।
 २०. नेमिदूतम्, ६४।
 २२. नेमिदूतम्, २६।
 २४. तदेव, ६७।
 २६. तदेव, १२३।
 २८. तदेव, ५६।
 ३०. तदेव, ९७।
 ३२. तदेव, ९।
 ३४. तदेव, ९१।
 ३६. तदेव, २०।
 ३८. तदेव, १२१।
 ४०. काव्यप्रकाश, १०/९२।
 ४२. तदेव, ८९।
 ४४. काव्यप्रकाश, १०/९३।
 ४६. तदेव, ११०।
 ४८. तदेव, ४४।
 ५०. नेमिदूतम्, ५।
 ५२. तदेव, १२२।
 ५४. साहित्यदर्पण, १०/६३।
 ५६. तदेव, ४३।
 ५८. साहित्यदर्पण, १०/८७-८८।
 ६०. नेमिदूतम्, ५२।
 ६२. साहित्यदर्पण, १०/८३।
 ६४. तदेव, ११३।
 ६६. नेमिदूतम्, ३५।
 ६८. तदेव, ३६, ७३, १२५।
 ७०. नेमिदूतम्, ४६।
 ७२. काव्यप्रकाश, १०/११६।
 ७४. नेमिदूतम्, ६६, ७१।
 ७६. नेमिदूतम्, ३३।
 ७८. काव्यप्रकाश, १०/१०८।
 ८०. तदेव, ८३।

८१. साहित्यदर्पण, १०/५२।
 ८३. तदेव, १११।
 ८५. नेमिदूतम्, १६।
 ८७. नेमिदूतम्, ७९।
 ८९. नेमिदूतम्, ८४।
 ९१. नेमिदूतम्, ८५।
 ९३. नेमिदूतम्, ९१।
 ९५. नेमिदूतम्, ६०।
 ९७. नेमिदूतम्, ७०।
 ९९. समुच्चय अलङ्कार के उदाहरण के रूप में उद्धृत, नेमिदूतम्, ८०।
 १०१. नेमिदूतम्, १०५।
 १०३. नेमिदूतम्, ३५।
 १०५. नेमिदूतम्, ८१।
 १०७. नेमिदूतम्, ८७।
 १०९. नेमिदूतम्, ८७।
 १११. नेमिदूतम्, ४।
 ११३. तदेव, १।
 ११५. तदेव, १९।
 ११७. तदेव, ५९।
 ११९. तदेव, ७४।
 १२१. तदेव, १०१, ११७।
 १२३. तदेव, १०८, ११२।
 १२५. साहित्यदर्पण, १०/९८।
 १२७. तदेव, ८८।
 १२९. तदेव, १५, ६५।
 १३१. तदेव, ३, १७।
 १३३. तदेव, १८।
 १३५. तदेव, ३०, १०९।
 १३७. तदेव, ३४।
 ८२. नेमिदूतम्, ३९।
 ८४. साहित्यदर्पण, १०/७०-७१।
 ८६. काव्यप्रकाश, १०/१०४।
 ८८. साहित्यदर्पण, १०/२७।
 ९०. काव्यप्रकाश, १०/९६।
 ९२. काव्यप्रकाश, १०/९७।
 ९४. साहित्यदर्पण, १०/८०।
 ९६. काव्यप्रकाश, १०/११९।
 ९८. साहित्यदर्पण, १०/६३।
 १००. साहित्यदर्पण, १०/५७।
 १०२. साहित्यदर्पण, १०/९३-९४।
 १०४. साहित्यदर्पण, १०/४६ तथा उस पर वृत्ति।
 १०६. साहित्यदर्पण, १०/५१।
 १०८. काव्यप्रकाश, १०/११३।
 ११०. काव्यप्रकाश, १०/६०।
 ११२. तदेव, ६२।
 ११४. नेमिदूतम्, १०३।
 ११६. तदेव, ४१।
 ११८. तदेव, ६८, ९०, ९९।
 १२०. तदेव, ७८, ११४।
 १२२. तदेव, ५०।
 १२४. तदेव, ५५।
 १२६. नेमिदूतम्, ५४।
 १२८. नेमिदूतम्, २।
 १३०. तदेव, ११२।
 १३२. तदेव, ८।
 १३४. तदेव, २५, ३८।
 १३६. तदेव, ६४।



खरतरगच्छ - सागरचन्द्रसूरिशाखा का इतिहास

शिवप्रसाद*

खरतरगच्छ में समय-समय पर अस्तित्व में आयी विभिन्न शाखाओं में सागरचन्द्रसूरिशाखा भी एक है। परन्तु यह स्वतंत्र शाखा न होकर बल्कि मुख्य परम्परा की आज्ञानुवर्ती रही है। आचार्य जिनोदयसूरि के प्रशिष्य और जिनराजसूरि के शिष्य सागरचन्द्रसूरि अपने समय के प्रभावशाली जैनाचार्य थे। आचार्य जिनराजसूरि के वि०सं० १४६१/ई०सं० १४०५ में निधन होने पर इन्होंने जिनवर्धनसूरि को उनके पट्ट पर प्रतिष्ठित किया। वि०सं० १४७५ में कुछ अपरिहार्य कारणों से सागरचन्द्रसूरि ने जिनवर्धनसूरि के स्थान पर जिनभद्रसूरि को अपने गुरु जिनराजसूरि का पट्टधर बनाया।^१

सागरचन्द्रसूरिशाखा के इतिहास के अध्ययन के लिये इस परम्परा के विभिन्न मुनिजनों द्वारा रचित और अध्ययनार्थ प्रतिलिपि किये गये ग्रन्थों की प्रशस्तियों में इस शाखा के विभिन्न मुनिजनों के नाम प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार इस शाखा से सम्बद्ध कुछ अभिलेखीय साक्ष्य भी मिले हैं, जो वि०सं० १७५५ से वि०सं० १९६५ तक के हैं।^२ ये लेख इस शाखा के विभिन्न मुनिजनों की चरणपादुकाओं आदि पर उत्कीर्ण हैं। यद्यपि इनसे इस गच्छ के इतिहास पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, फिर भी विक्रम सम्वत् की २०वीं शताब्दी के छठे दशक के मध्य तक इस शाखा के अस्तित्ववान होने के अकाट्य प्रमाण हैं। वर्तमान में इस शाखा के एक-दो यति भीनासर में विद्यमान हैं।^{२अ}

इस शाखा के आदिपुरुष सागरचन्द्रसूरि द्वारा रचित न तो कोई कृति प्राप्त हुई और न ही इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख ही प्राप्त होता है।^३ किन्तु इनकी परम्परा में हुए दयासागर गणि ने वि०सं० १५१० में **ओघनिर्युक्ति**^४ और वि०सं० १५१४ में **षट्स्थानक-प्रकरणवृत्ति**^५ की स्वयं द्वारा लिखी गयी प्रतिलिपि की प्रशस्ति में अपने प्रगुरु के रूप में आचार्य सागरचन्द्रसूरि का सादर उल्लेख किया है। उनके द्वारा दी गयी गुर्वावली इस प्रकार है :

सागरचन्द्रसूरि

↓
महिमराज

↓
दयासागरगणि (वि०सं० १५१० में **ओघनिर्युक्ति** और वि०सं० १५१४ में **षट्स्थानकप्रकरणवृत्ति** के प्रतिलिपिकार)

* प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

दयासागरगणि के शिष्य वाचक ज्ञानमंदिरगणि ने वि०सं० १५६२ में **पिण्डनिर्युक्ति** का संशोधन किया।^६ ज्ञानमंदिरगणि के शिष्य देवतिलक हुए जिन्होंने वि०सं० १५६४ में अपने गुरु के समक्ष **संघपट्टकवृत्तिसह** का संशोधन किया।^७ इनके शिष्य उपाध्याय हर्षप्रभ हुए जिनके द्वारा रचित कोई कृति नहीं मिलती किन्तु इनके शिष्य हीरकलश ने वि०सं० १६०८ या १६१८ में मरु-गुर्जर भाषा में **मुनिपतिचरित्र**^८ की रचना की। इसकी प्रशस्ति के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने अपनी लम्बी गुर्वावली दी है, जो निम्नानुसार है :

सागरचन्द्रसूरि

|
महिमराज

|
दयासागरगणि

|
वाचक ज्ञानमंदिरगणि

|
उपाध्याय देवतिलक

|
उपाध्याय हर्षप्रभ

|
मुनि हीरकलश (वि०सं० १६०८/ई०स० १५५२ या वि०सं० १६१८/
ई०स० १५६२ में **मुनिपतिचरित्र** के रचनाकार)

वि०सं० १५३०-५२ के मध्य मरु-गुर्जर भाषा में रची गयी कृति **रूपकमाला** के रचनाकार पुण्यनंदि^९ भी इसी शाखा से सम्बद्ध थे। कृति प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है :

सागरचन्द्रसूरि

|
महिमराज

|
रत्नकीर्ति

|
समयभक्त

|
पुण्यनंदि (वि०सं० १५३०-५२ के मध्य **रूपकमाला** के रचयिता)

इसी प्रकार वि०सं० १६६४ में प्रतिलिपि की गयी **शाम्ब-प्रद्युम्नचौपाई** की दाताप्रशस्ति^{१०} में भी लिपिकार ने अपने गुरु-परम्परा की लम्बी गुर्वावली दी है, जो निम्नानुसार है :

सागरचन्द्रसूरि
 |
 सोमसुन्दरसूरि
 |
 साधुलाभ
 |
 चारुधर्म
 |
 समयकलशगणि
 |
 सुखनिधान
 |
 मोहन (वि०सं० १६६४ में **शाम्ब-प्रद्युम्नचौपाई** के प्रतिलिपिकार)

वि०सं० १७३८ में **सीतारामचौपाई** के प्रतिलिपिकार यशोलाभगणि भी सागरचन्द्रसूरिशाखा से ही सम्बद्ध थे। यह बात उनके द्वारा लिखी गयी उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि की प्रशस्ति^{१९} से ज्ञात होती है।

सागरचन्द्रसूरिशाखा के
 सुखनिधान
 |
 पं० गुणसेन
 |
 यशोलाभगणि (वि०सं० १७३८ में **सीतारामचौपाई** के प्रतिलिपिकार)

देवतिलक उपाध्याय के प्रशिष्य और विजयराज उपाध्याय के शिष्य मुनि कनकसार ने वि०सं० १६२८ में **उत्तराध्ययनसूत्र** की प्रतिलिपि^{२०} की। इसकी प्रशस्ति में इन्होंने अपने गुरु-प्रगुरु, गुरुभ्राताओं आदि का नामोल्लेख किया है, जो निम्नानुसार है -

सागरचन्द्रसूरि
 |
 महिमराज
 |
 दयासागरगणि
 |
 ज्ञानमंदिरगणि
 |
 देवतिलक उपाध्याय
 |
 विजयराज उपाध्याय

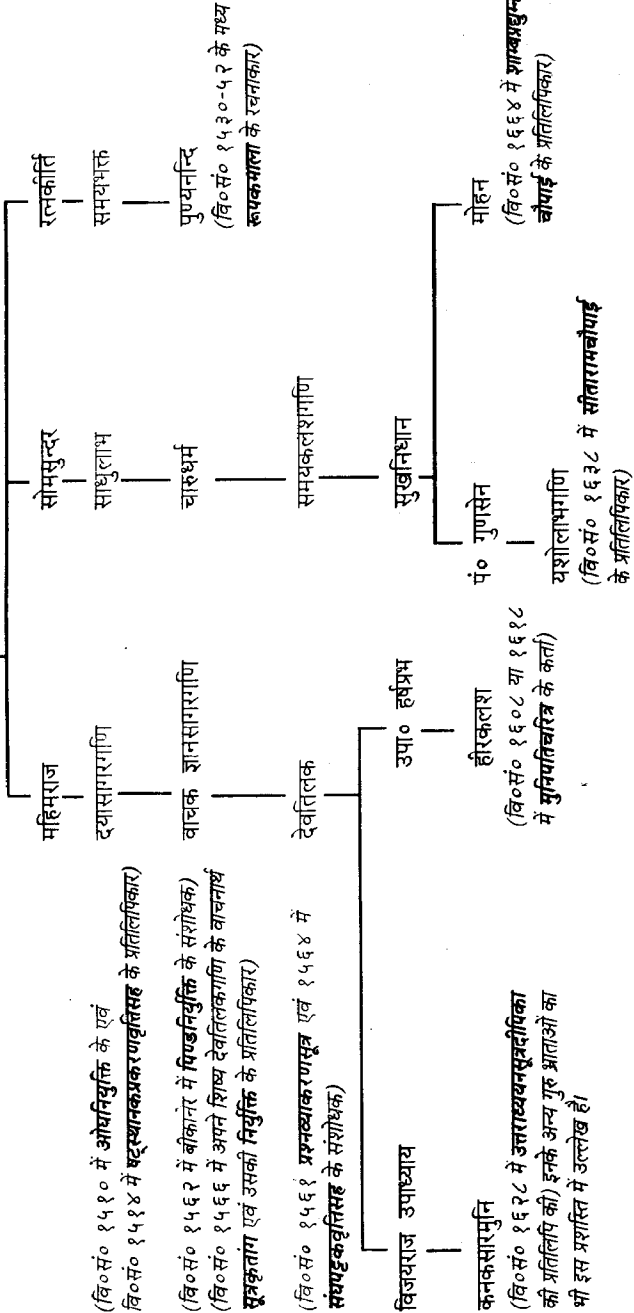
पं० पद्ममंदिर मुनि (ऋषिमंडलटीका के रचनाकार)	पं० कनकसार मुनि (वि०सं० १६२८ में उत्तरा- ध्ययनसूत्र के प्रतिलिपिकार)	पं० कर्मसारमुनि	पं० मेहाजल
---	--	-----------------	------------

इस प्रकार विभिन्न प्रशस्तिगत उक्त छोटी-छोटी गुर्वावतियों के समायोजन से इस परम्परा की एक तालिका संगठित की जा सकती है, जो इस प्रकार है : द्रष्टव्य-तालिका - १

तालिका - १

जिनसमुद्रसूरि

आचार्य सागरचन्द्रसूरि



वि०सं० १७६२ में लिपिकृत **चतुर्विंशतिस्तव** की प्रशस्ति^{१३} में प्रतिलिपिकार सुखहेम ने भी स्वयं को खरतरगच्छ की सागरचन्द्रसूरि शाखा से सम्बद्ध बतलाते हुए अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो निम्नानुसार है :

महिमाहेगणि

↓
कल्याणसागर

↓
आनन्दधीर

↓
सुखहेम (वि०सं० १७६२ में **चतुर्विंशतिस्तव** के प्रतिलिपिकार)

मुनि सुखहेम के शिष्य सुखविलास ने वि०सं० १८०४ में **धर्मबुद्धिपाप-बुद्धिचौपाई**^{१४} की प्रतिलिपि की।

इसी प्रकार वि०सं० १७७८ में **हंसराजवच्छराजचौपाई**^{१५} और वि०सं० १७८८ में **नलदमयन्तीरास**^{१६} के प्रतिलिपिकार मुनि चतुरहर्ष ने भी स्वयं को सागरचन्द्रसूरि शाखा से सम्बद्ध बतलाते हुए अपनी लम्बी गुर्वावली दी है, जो इस प्रकार है :

सागरचन्द्रसूरिसंतानीय महिमाहेमगणि

↓
कल्याणसागरगणि

↓
देवधीर

↓
हेमहर्ष

↓
मुनि चतुरहर्ष (वि०सं० १७७८ में **हंसराजवच्छराजचौपाई** और
वि०सं० १७८८ में **नलदमयन्तीरास** के प्रतिलिपिकार)

उक्त दोनों प्रशस्तियों के समायोजन से एक नई तालिका संगठित की जा सकती है, जो निम्नानुसार है : द्रष्टव्य - तालिका - २

सागरचन्द्रसूरिसंतानीय महिमाहेमगणि

↓
कल्याणसागरगणि

↓
आनन्दधीर

↓
सुखहेम (वि०सं० १७६२ में **चतुर्विंशति-स्तव** के प्रतिलिपिकार)

↓
सुखविलास (वि०सं० १८०४ में **धर्मबुद्धि-पापबुद्धि चौपाई** के प्रतिलिपिकार)

↓
देवधीर

↓
हेमहर्ष

↓
चतुरहर्ष (वि०सं० १७७८ में **हंसराजवच्छ-राज चौपाई** एवं वि०सं० १७८८ में **नलदमयन्तीरास** के प्रतिलिपिकार)

सागरचन्द्रसूरिशाखा के राजेन्द्रगणि के प्रशिष्य एवं वाचक जयनिधानगणि के शिष्य मुनिकमल सिंह ने सिन्धुदेश में वि०सं० १६७४ में ज्ञाताधर्मकथा की प्रतिलिपि की।^{१६अ}

वि०सं० १७२१ में **अभिधानचिन्तामणिनाममाला** के प्रतिलिपिकार वाचक कमलरत्नगणि भी सागरचन्द्रसूरि शाखा से सम्बद्ध थे। इसकी दाताप्रशस्ति^{१७} में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा के कुछ मुनिजनों का नामोल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :

सागरचन्द्रसूरिशाखा के दयारत्नगणि

↓
उपा० शिवदेव
↓
उपा० राजचन्द्र
↓
वाचक जयनिधान
↓
वाचक कमलसिंह
↓

वाचक कमलरत्नगणि (वि०सं० १७२१/ई०सन् १६६५
में **अभिधानचिन्तामणिनाममाला** के
प्रतिलिपिकार)

इस प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने उक्त ग्रन्थ को अपने शिष्य दानचन्द्र के पठनार्थ लिखा था। वि०सं० १७३०/ई०सं० १६७४ में **मृगावतीचरित** के प्रतिलिपिकार^{१८} भी उक्त दानचन्द्र ही थे।

वि०सं० १७३७ में पं० नयनानन्द द्वारा लिखी गयी **शब्दशोभाव्याकरणवृत्तिसह** की प्रशस्ति^{१९} से ज्ञात होता है कि प्रतिलिपिकर्ता कमलचन्द्रगणि के प्रशिष्य और मुनि ज्ञानचन्द्र के शिष्य थे।

उक्त तीनों प्रशस्तियों में दी गयी गुर्वावलियों के आधार पर सागरचन्द्रसूरि शाखा के मुनिजनों की एक अन्य तालिका संगठित होती है, जो इस प्रकार है : द्रष्टव्य -
तालिका - ३

तालिका - ३

सागरचन्द्रसूरि शाखा के पं० दयारत्नगणि

उपा० शिवदेव

उपा० राजचन्द्र

वाचक जयनिधान

कमलसिंह

वाचक कमलरत्न (वि०सं० १७२१ में **अभिधानचिन्ता-
मणिनाममाला** के प्रतिलिपिकार)

दानचन्द्र

(इन्ही के पठनार्थ इनके गुरु ने वि०सं०
१७२१ में **अभिधानचिन्तामणिनाममाला**
को प्रतिलिपिकी)

ज्ञानचन्द्रमुनि

पं० नयनानन्द

(वि०सं० १७३७ में **शब्दशोभा-
व्याकरण वृत्तिसह** के प्रतिलिपिकार)

वि०सं० १७०१ में **वीरांगदचौपाई** के प्रतिलिपिकार समयमूर्तिगणि भी स्वयं को सागरचन्द्रसूरिशाखा से ही सम्बद्ध बतलाते हैं। उक्त ग्रन्थ की प्रशस्ति^{२०} में उन्होंने स्वयं को ज्ञानप्रमोदगणि का प्रशिष्य और गुणनन्दनगणि का शिष्य बतलाया है :

सागरचन्द्रसूरिशाखा के ज्ञानप्रमोदगणि (**वाग्भटालंकारटीका** के कर्ता)

गुणनन्दनगणि (**मंगलकलशरास** वि०सं० १६६५
के कर्ता)

समयमूर्तिगणि (वि०सं० १७०१/ई०सं० १६४५ में
वीरांगदचौपाई के प्रतिलिपिकार)

वाग्भटालंकारटीका के रचनाकार के रूप में खरतरगच्छीय मुनि ज्ञानप्रमोद का नाम मिलता है।^{२१} चूंकि **मंगलकलशरास**^{२२} के रचनाकार गुणनन्दन गणि ने भी अपने गुरु का नाम ज्ञानप्रमोद ही बतलाया है अतः **वीरांगदचौपाई** की वि०सं० १७०१ में लिखी गयी प्रशस्तिगत गुर्वावली में जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं, प्रतिलिपिकार के प्रगुरु ज्ञानप्रमोदगणि और **वाग्भटालंकारटीका** के रचनाकार ज्ञानप्रमोद को समसामयिकता, नामसाम्य के आधार पर एक ही व्यक्ति माना जा सकता है।

सागरचन्द्रसूरिशाखा की पूर्वोक्त तीनों तालिकाओं में उल्लिखित मुनिजनों से ज्ञानप्रमोदगणि, गुणनन्दनगणि, समयमूर्तिगणि आदि में परस्पर क्या सम्बन्ध था, यह ज्ञात नहीं हो पाता। ठीक यही बात वि०सं० १६८१ में रामकृष्णचौपाई^{२३} के प्रतिलिपिकार पं० हरचन्द्र और उनके गुरु भुवन विशालगणि तथा वि०सं० १५९८ में घडसीसर में विजयचन्द्रकेवलीचरित्र के प्रतिलिपिकार मुनिसुभगमेरु,^{२४} उनके गुरु उदयतिलक गणि तथा प्रगुरु शिवदेवगणि के बारे में भी कही जा सकती है।

सन्दर्भ :

१. भंवरलाल नाहटा एवं महोपाध्याय विनयसागर, संपा० खरतरगच्छ दीक्षा नन्दी सूची, प्राकृत भारती, पुष्प ६७, जयपुर १९९० ई० स०, पृष्ठ २३.
२. अगरचन्द्र नाहटा, भंवरलाल नाहटा, संपा० बीकानेर जैन लेख संग्रह, परिशिष्टि 'च' पृष्ठ ३९.
- २अ. यह सूचना महो० विनयसागर जी से प्राप्त हुई है, जिसके लिये लेखक उनका हृदय से आभारी हैं।
३. नारचन्द्रज्योतिषसारटिप्पण के रचनाकार सागरचन्द्र और जिनराजसूरि के शिष्य सागरचन्द्र को अगरचन्द्र जी नाहटा ने एक ही व्यक्ति माना है, परन्तु पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में नाहटा जी का उक्त मत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता।
४. संवत् १५१० वर्षे श्रीखरतरगच्छे श्री सागरचन्द्रसूरिशाखायां वा महिमराजगणि तत्शिष्य पं० दयासागरगणिना लिखिता श्रीपट्टने।
Muni Punya Vijaya, Ed. *New Catalogue of Sanskrit & Prakrit Manuscripts: Jesalmer Collection* L.D. Series No. 36, Ahmedabad - 1972, No. 1452, P. 300.
५. संवत् १५१४ वर्षे माघ मासे १३ दिने श्रीखरतरगच्छे श्रीसागरचन्द्रसूरि शिष्य वा० महिमराजगणि तच्छिष्य वा० दयासागरगणिना समलेखि ग्रंथोऽयं।
Muni Punya Vijaya, Ibid, P-306, No. - 1534.
6. A.P. Shah, Ed. *Catalogue of Sanskrit & Prakrit Mss. Muni Shree Punya Vijayajis Collection*, Vol. I, L.D. Series No. 2, Ahmedabad 1962, No. 1058, P. 306.
७. श्रीवर्धमानजिन सं० २०३४ वर्षे विक्रमसंवत् १५४६ वर्षे श्रीखरतरगच्छे श्रीसागरचन्द्राचार्यान्वये वा० महिमराज गणीनां शिष्य वा० दयासागरगणीनां वि०वा० ज्ञानमंदिरगणीनां समीपे शि० देवतिलकेन वाचिता किंचिच्छोधिता च श्रीजंगलदेशे श्रीबीकानरये श्रीलूणकर्णराज्ये॥
Muni Punya Vijaya, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३१६, प्रशस्ति क्रमांक १६७८.

देवतिलकने वि० सं० १५६१ में अपने शिष्यों के पठनार्थ **प्रश्नव्याकरणसूत्र** का संशोधन किया और वि० सं० १५६६ में देवतिलक के गुरु ज्ञानमंदिरगणि ने अपने शिष्य के पठनार्थ **सूत्रकृतांगसूत्र** और उसकी **निर्युक्ति** की प्रतिलिपि की।

Muni Punya Vijaya, वही, प्रशस्ति क्रमांक १६७८, पृ० ३१६ तथा प्रशस्ति क्रमांक १४०२, पृ० २९७.

८. सागरचन्द्रसूरि मुणिवइ अे मा० तिहां आचारिज सार,
महिमराज वाचक हूया अे मा० तसु तणा सीस विचार। ॥२६॥
तासु सीस गुणमणितिल अे मा० दयासागर वणारीस,
मुनिगुणे सहित वाचकवइ अे मा० ज्ञानमंदिर तसू सीस । ॥२७॥
अनुक्रमि गुणमणिआगरु अे मा० श्री देवतिलक उवज्झाय,
हर्षप्रभुगणि जाणीयइ अे मा० तसु तणउ सीस सूजाय। ॥२८॥
अंतेवासी तेहनउ अे मां हीरकलस मुनि सार,
मुनिपति मुणिवर चउपइ अे मां कीधी अति सुविचार। ॥२९॥
संवत सोल अठरोतरे अे मां माह वदि सातमी जांणि,
वार रवि हस्त नक्षत्र सिउ अे मा० चउपइ वडी प्रमाण। ॥३०॥
गाथा मान हवि बोलीइ अे मा सातसि उपरि तेत्रीस,
मुनिपति मुनिवर चउपइ अे मा० भणतां मनि सुजगीस। ॥३१॥
जां लगई मेरु महीधरु अे मा० जां लागि द्र ससि भाण,
तां लागि अे रिषि चउपइ अे मा० वापरउ जग मांहि जाणि। ॥३२॥
इतिश्री मुनिपति रिषि चरीयइ अे मा० श्री वीकानयर मजारि,
रिसह जिणंद पसाउलइ अे मा० रचियउ चरिय उदार। ॥३३॥
मोहन लाल दलीचंद देसाई, संपा, **जैनगूर्जरकविओ**, द्वितीय संस्करण, भाग २,
संपादक - डा० जयन्त कोठारी, मुम्बई १९८७ ईस्वी, पृष्ठ ३६, क्रमांक ९४०.

९. कुसीलउथापक सुसीलसंस्थापक सागरचंद

सूरिराय वयणायरी रयणकीरति गणिचंद,
श्रीसमयभक्त वरवाचका वीर विणेरानंद
रूपकमाला शीलनी पभणइ श्रीपुण्यनंदि।

मोहनलाल दलीचंद देसाई, पूर्वोक्त, भाग १, द्वितीय संस्करण, मुम्बई १९८६
ईस्वी, पृष्ठ १५२, क्रमांक २२९.

१०. वही, भाग २, पृष्ठ ३१३.

११. वही, भाग २, पृष्ठ ३४८.

१२. संवत् १६२८ वर्षे आषाढ सुदि प्रतिपत्तिथौ शनिवारे पुष्यनक्षत्रे श्रीमज्जेसलमेरौ। यादवान्वयमुकुटमणिराउलश्रीहरिराजविजयराज्ये। श्रीबृहत्खरतगच्छे। श्रीजिनचंद्रसूरीशे विजयिनि श्रीमत्सागरचंद्रसूर्याचार्य श्री महिमराजगणिबंधुराणां। शिष्य वा० दया-सागरगणिसंधुराणां शिष्य ज्ञानमंदिरगणिधुरंधरणां प्रवर प्राथमकल्पिकानल्यगुण-रत्नरोहणाद्रि श्रीश्रीदेवतिलकोपाध्यायपुरहूतदंतावलानां विनेयामेयगुणश्रीविजय-राजोपाध्यायदिग्गजानां पं० पद्ममंदिरमुनि पं० कनकसारमुनि पं० कर्मसारमुनि पं० मेहाजल चिरंचीवी रिणमल्ल पं० किसना प्रमुखसारपरिवार-परिवृत्तानां शैष्येण पं० कनकसारमुनिना श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्रदीपिका लिलिखे।
Muni Punyavijaya, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३०२-३०३.
१३. देसाई, जैन गुर्जरकविओ, भाग ३, द्वितीय संस्करण, संपा०- डॉ० जयन्त कोठारी, पृष्ठ ११०.
१४. वही, भाग ४, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४५.
१५. वही, भाग ३, पृष्ठ १५०. १६. वही, भाग २, पृष्ठ ३३४.
- १६अ. श्रीप्रशस्तिसंग्रह, भाग २,, प्रशस्ति क्रमांक ७२८, पृ० १८४.
17. Muni Punya Vijaya, पूर्वोक्त, प्रशस्ति क्रमांक २०४९, पृष्ठ ३४९.
१८. जैनगुर्जरकविओ, भाग २, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३२५.
१९. संवत् १७३७ वर्षे वर्षे वर्षाऋतौ ----- ॥ श्रीसागरचंद्रसूरिशाखायां पट्टानुक्रम श्रीश्रीश्रीरायचंद्रगणिवाचक प्रसरति यशः। श्रीवा० जयनिधानगणिशिष्य पण्डितोत्तम कमलसिंहगणिशिष्य श्री वा० कमलरत्नगणि तदनुशासनशिष्य पं० नयनानंदमुनिपठनहेतवे॥ शुभं भवतु॥ श्रीश्रीश्री भट्टारक श्रीजिननकुश्लसूरि तत्प्रसादाल्लिखितमस्ति। श्रीखरतरगच्छीय॥
Muni Punya Vijaya - पूर्वोक्त, प्रशस्ति क्रमांक १७४६, पृष्ठ ३२१.
२०. देसाई जैनगुर्जरकविओ, द्वितीय संस्करण, भाग २, पृष्ठ ५६.
२१. महोपाध्याय विनयसागर, मणिधारीजिनचन्द्रसूरि अष्टमशताब्दीस्मृति ग्रन्थ, भाग २, खरतरगच्छीय साहित्य सूची, दिल्ली १९७२ ई०, पृष्ठ ३६.
22. Vidhatri Vora, *Catalogue of Gujarati Mss : Muni Shree Punya Vijaya Ji's Collection*, L.D. Series No. 71, Ahmedabad 1978 A.D. P - 614.
२३. देसाई, जैनगुर्जरकविओ, द्वितीय संस्करण, भाग ४, पृ० २११.
२४. अमृतलाल मगनलाल शाह, संपा० श्री प्रशस्तिसंग्रह, भाग २, प्रशस्तिक्रमांक ३५६, पृष्ठ ९८.



Jainism As Perceived by Huen-Tsang*

Dr. Arun Pratap Singh**

The records of the Chinese pilgrims who visited India for the purpose of knowing Buddha and his tenets are credible source of contemporary India. The first pilgrim whose writings have come down to us was Fa-hian. After him Sung-yun and Huen-tsang came the pious land of Buddha in the first half of the sixth and seventh century A.D. respectively. The last Chinese pilgrim enriching us by his writing was I-tsing who paid a visit in the last decades of the seventh century A.D. Of all them Huen-tsang deserves to be appreciated for his acumen and wide range of knowledge¹ while other pilgrims confined themselves only to Buddhist religion, Huen-tsang enriched us with the information of prevailing sects and cults of not only Buddhism but others too.

In this article I have endeavoured to focus the condition of Jaina religion during the visit of Huen-tsang. India was facing a turmoil period at that time. Imperial Guptas had disintegrated just before his coming and consequently a lot of small kingdoms were in offing. Jainism though slowly but steadily had spread almost all over India till this date but really its golden days had gone out for ever, never to return again as there was none to protect and provide royal facilities like Samprati and Khāravala; it was nevertheless still popular and was followed by a large population as we come to know from the records of Huen-tsang and other contemporary sources.

Huen-tsang informs us about the presence of Jaina followers in Kapisha² (Kia-pi-shi) and Simhapur³ (Sang-ho-pu-lo). According

* *Paper read at International Seminar on India's Perception Through Chinese Travellers held at Varanasi, Feb. 8-14, 2004.*

** *Reader, Ancient History Department, S.B.P.G. College, Dadar Ashram, Sikandarpur, Ballia - U.P.*

to him, there were naked ascetics in Kapisha. Naked ascetics may be identified with the Digambara Jaina as they used to wander without clothes. One may here raise doubt about this similarity as the followers of some sects like Pāśupatas and Kapāladhārin as they were also roaming as naked. It is important to note here that Huen-tsang as truth-lover gives no place for doubt; he clearly mentions these different sects wherever he finds them. Like Kapisha, Simhapura also had a lot of Jaina followers specially Śvetāmbaras. It is strange to note that Buddhist pilgrim here regarded them as dishonest separatist from Buddhism. "By the side of the stupa" he writes "is the spot where the original teacher of the white robed heretics arrived at the knowledge of principles he sought and first preached the law..... In their ceremonies and modes of life, do greatly resemble the priest (of Buddha), only they have little twist of hair on their heads and they go naked. Moreover what clothes they chance to wear are white. Such are the slight differences which distinguish them from others. The figure of their sacred master they stealthily class with that of Tathāgata; it differs only in point of clothing, the points of beauty are absolutely the same."⁴

Huen-tsang here seems to be bewildered seeing the similarity between the images of Jinas and Buddhists. The statues of both religious are alike except the Jina images are naked. Probably he for the first time came into the contact of Jina images who looked like Buddhist images. As he was familiar only to Buddhist images, he could not make the difference.

So far the identification of the cities of Kapisha and Simhapura are concerned, it is a question of debate. In his famous book *Ancient Geography of India*. Gen. Cunningham has identified it with Opian in Afghanistan, while according to some, it was situated "on the declivity of the Hindukush, not far from the little town of Ghorband or perhaps near Kushan, 10 miles west of Opian."⁵ The situation of Simhapura is also doubtful. Gen. Cunningham has identified it with modern Ketas in the salt range of modern Pakistan.⁶ While some scholars prefer to place it at Simhupuri near Sāranātha, Varanasi.

But it is really difficult to place it near Varanasi as the pilgrim has described this city between Takṣaśilā (Ta-Cha-Shi-Lo) and Urasha (Wu-la-shi), identified with modern Hazara district of Pakistan. It was therefore undoubtedly situated in North-Western India, not in the plain field of river Ganga. Besides, there are archaeological reports which indicate the presence of Jaina remains. In one of his reports, Prof. Stein clearly states that the Jaina sculptures of Simhapur are of better execution than those of Ellora.⁷ It is remarkable to note here that *Varāṅgacrita*, a text written in the seventh century A.D. just contemporary to Huen-tsang, informs us about the popularity of Jaina religion at Simhapur while describing the travelling route of prince Varāṅga.⁸

Huen-Tsang does not mention the Jaina presence in Takṣaśilā, nevertheless it has been a great Jaina centre from early periods. Literary as well as archaeological both sources provide us ample information regarding this. *Āvaśyaka Nirvyukti* and *Cūrṇi* associate this place with king Bāhubali who had reigned here. He was the son of first Tīrthaṅkara Ṛṣabhadeva and younger brother of Cakravarti Bharata. It is stated that Bāhubali had installed a jeweled Dharmacakra on the foot-prints left by Ṛṣabha at this place.⁹ It has been identified with the ruins near Shah-Dheri between Attock and Rawalpindi in Pakistan.¹⁰ In archaeological excavations, Sir John Marshall has found the remains related to Jaina religion. According to him, Taxila must have been adorned by a vast number of Jaina edifices, some of which were no doubt of considerable magnificence.¹¹ It is to be noted here that even in the beginning of the fourteenth century A.D., Āc. Jinaprabha in his *Vividhatīrthakalpa* mentions it as a Jaina holy place which was associated with Bāhubali.¹²

Then, Huen-tsang enters into the plain field of Ganga-Yamuna and finds a number of Jaina followers in various cities of that time like Vārāṅasī¹³ (Po-Lo-Ni-sse), Vaiśālī¹⁴ (Fei-she-li), Magadha¹⁵ (Mo-Kie-t'o), Rājagṛha¹⁶ (Ho-La-Shi-Ki-Li-hi), Puṇḍravardhana¹⁷ (Pun-Na-Fa-Tan-Na), Samatāṭa¹⁸ (San-Mo-Ta-cha) and in Kalinga¹⁹ (Kie-Ling-Kia). Almost all cities referred to by him were the Jaina

holy places. For example, Vārāṇasī like Hinduism and Buddhism was the sacred place of the Jaina followers. It is regarded to be the birth place of four Tīrthaṅkaras namely - Supārśvanātha, (the seventh Tīrthaṅkara); Candraprabha (the eighth Tīrthaṅkara - at Candrāvati near Vārāṇasī); Śreyāmsanātha (the eleventh Tīrthaṅkara) and Pārśvanātha (the twenty-third Tīrthaṅkara), Similarly, Vaiśālī, Magadha and Rājagṛha were known centres of Jainism. Magadha comprising with Rājagṛha was the great centre of Jaina followers. Mount Vipula was the most auspicious place associated with several Siddhās, Cakravartis who attained emancipation here. Describing the daily activities of Jaina monks on this mountain, Huen-Tsang states, “at the present time naked heretics (Nigranthas-Ni-Kin) frequent this place in great number; they practise penance night and day without intermission and from morn till night walk round the *Stūpa* and contemplate it with respect.”²⁰

It clearly indicates that Jainism was much popular in the heart-land of India. Literary and epigraphical records throw light on it. The illustrious Bāṇabhaṭṭa, the contemporary of Huen-tsang and also close to king Harṣa, informs about the presence of Jaina followers in the upper land of India. He has referred to them describing the serene atmosphere of the hermitage of sage Divākaramitra. Among the various types of Jaina monks - Ārhats, Śvetapaṭas and Keśaluñcana have been mentioned. Śvetapaṭas were clearly the Śvetāmbaras and Keśaluñcana were the Digambara Jainas. Ārhats seem to be those monks wandering naked like Digambaras or Śaivas. It is to be noted here that Bāṇabhaṭṭa calls some Buddhist monks as *Jinas* in the Harṣacarita.²¹

Huen-tsang's silence on the presence of Jaina followers in Mathurā is really amazing and needs verification. This city has been a great Jaina centre of Jainism since the early centuries of the christian era. A number of big and small inscriptions have been discovered from here which prove the popularity of Jainism before and after the coming of the Huen-tsang. He, however, names the *Deva-stūpa* but says nothing about the Nirgranthas (Ni-Kin). While *Deva Stūpa* was

related to Jaina religion from earliest times upto fourteenth century A.D. in the period of Ācārya Jinaprabhasūri as he records it in his *Vividhatīrthakalpa*.²² "If one analyses the travel account of Huen-tsang, it would be presumed that there is some confusion; and in place of Mathura, some other town was described. The Yamuna river which is the chief feature of area finds no mention The distance and measurements of the places do not seem to be correct. It appears that he bypassed Mathura and maintained the record on the basis of his personal enquiry."²³

Bengal and Orissa have been the strong-hold of Jainism from the early centuries. The *Kalpasūtra Therāval*²⁴ mentions the four branches of Godāsagaṇa, a line originating from preceptor Godāsa namely - Tāmraliptikā, Kotivarsīkā, Puṇḍravardanikā and Dāsīkharabaṭīkā. The first three śākhās were closely associated with the land of Bengal. Just before the coming of the traveller, the Pahārapur copper plates²⁵ of A.D. 478 records the donation of some land for the maintenance of worship at the Jaina Vihāra at Vaṭa Gohālī, which was presided over by the pupils of the Nirgrantha teacher Guhanandina of the Pañcastūpanikāya of Vārānasī. It indicates the general acceptance of Jainism and its popularity among the middle classes. Even after the departure of Huen-tsang, Jainism continued to be popular in these areas. We have some epigraphical records belonging to this period. An inscription of Śailodbhava dynasty, belonging to the later half of the seventh century A.D. refers to some Jaina monks as Prabuddhacandra and his preceptor. Another inscription belonging to the same period has been discovered from Ratnagiri hills situated in Cuttak district of Orissa. It gives the information about the installation of Jaina images and the existence of early Jaina establishment on these hills.²⁶

The Chinese traveller visited south India and there, too, he finds the presence of Jaina followers. He states that the Nirgranthas were in abundance in the country of Cola²⁷ (Chu-li-ye) and Malakūṭa (Mo-lo-kin-cha)²⁸ It seems that both cities were situated near modern Kanjeevaram. Some scholars are of the opinion that Huen-tsang did not go farther south than Kancipura or Kanjeevaram.²⁹

It is clear that Jainism in south India, was in a good condition during the time of Chinese pilgrim. It we believe on Sinhala texts *Dīpavaṃsa* and *Mahāvāṃsa*, the inhabitants of South India were quite familiar with the tenets of Jaina religion. The Sangama text like *Śilappadikāraṃa* and Buddhist epic *Maṇimekhalai* already mention the presence of Jaina religion in remote part of south India. During the time of Huen-tsang, Cālukyas under the leadership of Pulakeśina II were ruling over a large part of south India. We come to know from his famous Aihol inscription that Jaina followers were respected and honoured. The poet Ravikīrti who is credited to have composed this inscription was a devout Jaina. He was probably associated with the Yāpanīya sect of Jainism. This inscription opens with the invocation of *Jina*. Like Cālukyas almost all the dynasties flourished during this period were tolerant and had soft-corner for Jaina religion. The kings of Kadamba and Ganga dynasties were foremost in this pious cause. They created an amicable atmosphere in which Jainism could flourish in the coming centuries.³⁰

To sum up, during the visit of Huen-tsang in the first half of the seventh century A.D. Jainism was prevalent more or less from North-West to Bay of Bengal and even in the south India. From the accounts of Huen-tsang and other contemporary sources, we come to this conclusion that Jainism was losing its base in northern India while it was in a flourishing condition in western and southern India.

References :

1. Beal, Samuel, *Si-yu-ki, Buddhist Records of the Western world*, reprint, Delhi-1981 (Motilal Banarasidas); Part I, P. 3-4.
2. Ibid, P. 55.
3. Ibid, P. 143.
4. Ibid, P. 144-45.
5. Ibid, P. 55-56, Fn. 198.
6. Ibid, P, 143, Fn. 69.
7. Vienna Oriental Journal, P. 80 (referred to in *A Comprehensive History of Jainism*, A.K. Chatterjee) Vol. I, P. 98.

8. *Varāṅgacarita* (Ed. A.N. Upadhye), P. 27.
9. *Āvaśyaka Nirvyukti* (Vijayānandsūri Jaina series, Surat, 1939), Verse-322; *Āvaśyaka Cūrni* (Rishabhdeo Keshrimal, Ratlam 1928), Vol. I, P. 180.
10. Cunningham A., *Ancient Geography of India* (London, 1871); Page 104-5.
11. *Archaeological Survey of India*, Annual Report 1914-15, P. 2.
12. *A Comprehensive History of Jainism*, Vol. I, P. 97.
13. Si-yu-kī, *Buddhist Records of the Western World*, Part II, P. 45.
14. *Ibid*, P. 66.
15. *Ibid*, P. 158.
16. *Ibid*, P. 168.
17. *Ibid*, P. 195.
18. *Ibid*, P. 199.
19. *Ibid*, P. 208.
20. *Ibid*, P. 158.
21. Agrawal, V.S., *Harṣacarita - Ek Sāṁskritika Addhyayana*, (Bihar Rashtrabhasa Parishad, Patna, 1953) P. 191.
22. Bajpayee, K.D. *Early Inscriptions of Mathura* (Punthi Pustaka, Calcutta, 1980), P. 104-6.
23. Sharma, R.C., "Chinese Travellers on Mathura", (Paper presented at International Seminar on India's Perception Through Chinese Travellers held at Varanasi, (Feb. 8-14, 2004) P. 5
24. *Kalpasūtra* (Therāvalī) 7; *Kalpasūtra vṛtti* (Jain Atmanand Sabha, Bhavanagar) P. 255.
25. *Ep. Ind.* Vol. XX, P. 61.
26. *Ibid*, Vol. XXIX, P. 38.
27. *Si-yu-ki*, Part II, P. 227
28. *Ibid*, P. 231.
29. *Ibid*, P. 230, Fn. 123.
30. *A Comprehensive History of Jainism*, Vol. I, P. 118-28.



विद्यापीठ के प्रांगण में

पूज्य मुनिश्री पीयूषसागर जी ठाणा ४ अध्ययनार्थ विद्यापीठ में

खरतरगच्छीय पूज्य मुनिराज श्री पीयूषसागर जी म०सा०, पूज्यश्रीसम्यक् रत्नसागरजी म०सा०, पूज्य श्री महेन्द्रसागरजी एवं पूज्य श्री मनीषसागरजी महाराज अध्ययनार्थ पार्श्वनाथ विद्यापीठ में विराजित हैं। इसी उद्देश्य से ही उन्होंने वर्ष २००४ का अपना वर्षावास यहां सुनिश्चित किया। सभी मुनिजनों का यहां सुचारु रूप से अध्ययन एवं स्वाध्याय चल रहा है और वे सुख-साता के साथ के विराजमान हैं।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में स्वतंत्रता दिवस समारोह सम्पन्न

स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ में ध्वजारोहण का कार्यक्रम आयोजित किया गया। इस अवसर पर श्वे० मूर्तिपूजक समाज, वाराणसी के अग्रगण्य श्रावक श्री धनपतराज जी भंसाली मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। कार्यक्रम का प्रारम्भ मुख्य अतिथि द्वारा राष्ट्रीय ध्वजारोहण और सामूहिक राष्ट्रगान से हुआ। इस अवसर पर बोलते हुए पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० महेश्वरी प्रसाद जी ने स्वतंत्रता दिवस के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उसके महत्त्व की विस्तृत चर्चा करते हुए आगन्तुक अतिथियों को पार्श्वनाथ विद्यापीठ की गतिविधियों से अवगत कराया और भावी कार्यक्रमों की जानकारी दी। अपने उद्बोधन में मुख्य अतिथि श्री भंसांली जी ने स्वतंत्रता दिवस के महत्त्व की चर्चा के साथ ही विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित होने वाले एक ग्रन्थ के सम्पूर्ण व्यय को वहन करने की घोषणा की जिसका उपस्थित जनों ने हर्षोल्लास के साथ स्वागत किया। इस अवसर पर उपस्थित अन्य वक्ताओं ने भी अपने विचार व्यक्त किये।

प्रो० एस० क्रोमवेल क्राफोर्ड पार्श्वनाथ विद्यापीठ में

हवाई विश्वविद्यालय होनेलूलू (उत्तरी अमेरिका) में जैन विद्या के प्रो० एस० क्रोमवेल क्राफोर्ड भारत वर्ष की प्रमुख जैन संस्थाओं के दौर पर दिसम्बर २००४ के अंतिम सप्ताह में पधार रहे हैं। अपने भारत प्रवास के दौरान वे दिल्ली, जयपुर, इन्दौर, भोपाल और वाराणसी की जैन संस्थाओं में जैन विद्या के विकास के संदर्भ में वहां के शिक्षकों तथा पदाधिकारियों से विचार-विमर्श करेंगे। अपने वाराणसी प्रवास में प्रो० क्राफोर्ड २ दिन पार्श्वनाथ विद्यापीठ में रुकेंगे। वे हवाई विश्वविद्यालय और

१०० : श्रमण, वर्ष ५६, अंक ७-९/जुलाई-सितम्बर २००४

भारतीय जैन संस्थाओं में जैन विद्या के अध्येताओं एवं विद्वानों के पारस्परिक आदान-प्रदान की सम्भावनाओं का भी पता लगायेंगे। प्रो० क्राफोर्ड की प्रायोगिक जैन विद्या पर विशेष रुचि है। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार हवाई विश्वविद्यालय के ४ छात्र एवं २ अध्यापक जून २००५ में पार्श्वनाथ विद्यापीठ में अध्ययन हेतु पधारेंगे। इससे भारतीय जैन संस्थाओं के छात्रों और अध्यापकों के भी हवाई विश्वविद्यालय जाने का मार्गप्रशस्त होगा। जैन विद्या के विकास के संदर्भ में यह प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है।

पाण्डुलिपियों के रख-रखाव एवं प्रारम्भिक उपचार पर कार्यशाला का आयोजन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नई दिल्ली एवं भारतीय संरक्षण संस्थान परिषद, लखनऊ के संयुक्त तत्त्वावधान में पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में पाण्डुलिपियों के रख-रखाव एवं प्रारम्भिक उपचार पर तीन दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया जा रहा है। यह कार्यशाला १७-१९ फरवरी, २००५ को आयोजित की जा रही है। इसमें भाग लेने के इच्छुक व्यक्ति निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ से सम्पर्क करें।

डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा को भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद की सीनियर फेलोशिप प्राप्त

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व शोध छात्र एवं महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ में दर्शन विभाग के पूर्व उपाचार्य डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा को भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद की सीनियर फेलोशिप प्रदान की गयी है। इसके अन्तर्गत डॉ० सिन्हा “विश्व के धर्म और उनकी तात्त्विक एकता” नामक विषय पर शोध कार्य करेंगे। ज्ञातव्य है कि उन्हें यह फेलोशिप पिछले अगस्त माह से प्रदान की गयी है।



जैन जगत्

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन 'भास्कर' को १५ अगस्त के दिन "राष्ट्रपति पुरस्कार" से सम्मानित किया गया। यह गौरवशाली पुरस्कार उनके द्वारा पालि-प्राकृत भाषा में किये गये महत्त्वपूर्ण अवदान के लिये दिया गया।



डॉ० जैन ने नागपुर विश्वविद्यालय में पालि-प्राकृत विभागाध्यक्ष पद पर एक लम्बे असें तक अपनी सेवायें दी। साथ ही राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर तथा पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में भी जैनदर्शन के प्रोफेसर एवं निदेशक के रूप में कार्यभार संभाला। सम्प्रति वे राष्ट्रीय प्राकृत शोध संस्थान, श्रवणबेलगोला, मैसूर विश्वविद्यालय में संयुक्त निदेशक के रूप में अपनी सेवायें समर्पित कर रहे हैं।

प्रो० जैन के अभी तक ४० शोध ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इस सर्वोच्च गरिमामय पुरस्कार के पूर्व आप विभिन्न पुरस्कारों से पुरस्कृत किये जा चुके हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार अपने पूर्व निदेशक की इस गौरवमय उपलब्धि पर उनका हार्दिक अभिनन्दन करता है।

डॉ० भारिल्ल साधना चैनल पर

जयपुर। जैनागम के अध्येता और तत्त्ववेत्ता डॉ० हुकमचन्द्रजी भारिल्ल के अहिंसा, शाकाहार, श्रावकधर्म, बारहव्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ, षट् आवश्यक, वैराग्यवर्धक बारहभावनाएँ, अनेकान्त-स्याद्वाद, वस्तुव्यवस्था तथा आत्मा-परमात्मा जैसे गम्भीर विषयों पर मार्मिक प्रवचन साधना चैनल पर नियमित रूप से १० सितम्बर से रात्रि १० बजे सोम से शनि तथा रविवार को अपरान्ह २.३० पर प्रसारित होने लगे हैं। अध्यात्म प्रेमी बन्धु अपने समय का सदुपयोग करते हुए इसका लाभ उठा सकते हैं।

हरिद्वार में पर्युषण पर्व की अनुपम प्रभावना

श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ, हरिद्वार में श्रीमद् विजयजयन्त सेन सूरिश्वरजी म०सा० आज्ञानुवर्तिनी परमपूज्या स्व० साध्वी श्री महाप्रभा श्रीजी म०सा० की सुशिष्या साध्वी डॉ० प्रियदर्शना श्रीजी एवं साध्वी डॉ० सुदर्शना श्रीजी म०सा०

१०२ : श्रमण, वर्ष ५६, अंक ७-९/जुलाई-सितम्बर

की निश्रा में इस वर्ष महापर्व “पर्युषण” बड़े उल्लासपूर्ण वातावरण में एवं धर्म साधना-तपस्या के साथ मनाया गया। पर्युषण के पूरे आठ दिनों तक दैनिक पूजा के अतिरिक्त रात को मन्दिरजी में जिनेश्वर भगवान् की संगीतमय भक्ति एवं आरती का लाभ अनेक भक्तों एवं दर्शनार्थियों ने लिया।

स्मृति शेष

श्रीमती अमराव देवी कांकरिया स्वर्गस्थ

कोलकाता ८ जुलाई स्वर्गीय फूसराज जी कांकरिया की पत्नी श्रीमती अमराव देवी कांकरिया का ६ जुलाई २००४ को ९६ वर्ष की अवस्था में कोलकाता में निधन हो गया। आप अत्यन्त धर्मनिष्ठ महिला थीं। अपने लम्बे जीवनकाल में आप न केवल विभिन्न धार्मिक क्रियाकलापों में संलग्न रहीं बल्कि आपने अनेक सामाजिक कार्य भी कराये।



आपकी स्मृति में आपके परिजनों की ओर से ११००/- रुपये पार्श्वनाथ विद्यापीठ की शोध पत्रिका श्रमण को भेंट स्वरूप प्रदान किया गया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से श्रीमती कांकरिया को हार्दिक श्रद्धांजलि।

श्रीमती दयाबहन दिवंगत

सुप्रसिद्ध सर्वोदयी विचारक और पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व व्यवस्थापक स्व० शांतिलाल वनमालीदास सेठ की धर्मपत्नी श्रीमती दयाबहन सेठ का ८७ वर्ष की आयु में १० सितम्बर २००४ को बैंगलोर में निधन को गया। आप अपने पीछे भरा पूरा परिवार छोड़ गई हैं। आपके पुत्र श्री हर्षवर्धन एवं श्री दीपक भाई सुविख्यात समाजसेवी हैं। दीपक भाई ने दो वर्ष पूर्व बैंगलोर में दयाशान्ति चैरिटेबल मेडिकल एण्ड डेण्टल क्लीनिक की भी स्थापना की है, जिसमें मरीजों को निःशुल्क एलोपैथिक चिकित्सा सुविधा प्रदान की जाती है। विद्यापीठ परिवार की ओर से दयाबहन को हार्दिक श्रद्धांजलि।



साहित्य सत्कार

कैसे पाएँ मन की शान्ति; लेखक - श्री चन्द्रप्रभ; प्रका० - जितयशा फाउण्डेशन, ८ बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम०आई० रोड, जयपुर, राजस्थान; संस्करण - २००४, आकार - डिमाई, पृष्ठ - ९९; मूल्य - १५

मनुष्य के मन की तरंग को शान्त करने का एक सफल प्रयास है श्री चन्द्रप्रभ रचित "कैसे पाएँ मन की शान्ति" नामक यह छोटी सी पुस्तक। 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए चन्द्रप्रभजी ने वह सब कुछ इसमें रखा है जो अन्यत्र दुर्लभ है। शब्दों की सहजता, आत्मसात् करने योग्य भाषा-शैली, स्पष्ट विचार ये सब इस पुस्तक की विशेषता है जिसे पाठक स्वयं ही अनुभव करेंगे। चिन्ता छोड़ें सुख से जीएँ, क्रोध से बचने के सरल उपाय, तनाव मुक्ति का मनोविज्ञान, कैसे बदलें अपनी आदतें, मजबूत कीजिए अन्तर्मन, दिल में जलाएँ प्रेम की रोशनी, कैसे पाएँ मन की शान्ति, हर हाल में मस्त रहें आदि शीर्षकों के माध्यम से लेखक ने चिन्ता, क्रोध, तनाव, दुःख, आदि से निवृत्ति पाने एवं स्वयं में आत्मबल विकसित करने के लिए प्रेरित किया है। उचित दृष्टांत के माध्यम से सारे पाठ-रोचक बन पड़े हैं। अन्त में मैं यही कहना चाहूँगा कि जिसके लिए हम सभी व्याकुल रहते हैं, जिसको पाने की हार्दिक इच्छा सभी को रहती है, वह है 'मन की शान्ति' - जो सहज ही इस पुस्तक में उपलब्ध है।

- डॉ० राघवेंद्र पाण्डेय

संस्कार सागर; प्रधान सम्पादक - ब्र० जिनेश मलैया, प्रका० - दिग० जैन युवक संघ; प्राप्ति स्थान - संस्कार सागर, श्री दिग० जैन पंच बालयति मंदिर, सत्यम गैस के सामने, ए०बी० रोड, इन्दौर-१०, संस्करण - जुलाई २००४, आकार- डिमाई, पृष्ठ - ८०, मूल्य - २५ रुपये।

संस्कार सागर दिगम्बर समाज की मासिक पत्रिकाओं में से एक है। इसे आधोपान्त पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यह छोटी सी पत्रिका उत्कृष्ट कोटि की है जिसमें एक ही जगह लेख, कविता, योग कैरियर सम्बन्धी, देश-विदेश की प्रमुख घटनाओं का संग्रह, प्राकृत शिक्षा आदि का अनूठा संग्रह है। साथ ही श्री विद्यासागर जी महाराज एवं उनके शिष्यों के वर्ष २००४ का चतुर्मास विवरण एवं भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ एवं उनके फोन नम्बर दिए गए हैं। हास्य तरंग, ज्ञानवर्धक स्तम्भ एवं संक्षिप्त दैनिक पंचाग भी पत्रिका में उपलब्ध है। यह पत्रिका नियमित पठन-पाठन के योग्य है।

भक्ति-संगीत समयसार, लेखक - रामजीत जैन (एडवोकेट), पुस्तक प्राप्ति स्थान - पं० ज्ञानचन्द्र जैन, साहित्य बिक्री केन्द्र, सोनागिरि, जिला - दतिया, मध्य प्रदेश, संस्करण- प्रथम २००४ ईस्वी, आकार- डिमाई, पृष्ठ ४३, मूल्य- २१ रुपये।

रामजीत जैन एडवोकेट द्वारा संकलित **भक्ति-संगीत समयसार** मानव जीवन में भक्ति एवं संगीत के महत्त्व को दर्शाता है। संगीत भी भक्ति का एक सशक्त माध्यम है। स्वयं को अपने इष्ट के प्रति पूर्णरूपेण अर्पित करना ही भक्ति है और संगीत उस अर्पण की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम। प्रस्तुत कृति में भक्ति, भक्तिभाव की वैज्ञानिकता, जिनेन्द्र भक्ति, पूजा एवं संगीत शीर्षक से लेखक ने जीवन में भक्ति और संगीत के महत्त्व को दिखाने का सफल प्रयास किया है। यत्र-तत्र प्रश्नोत्तर के माध्यम से भी प्रकाश डाला गया है। भक्ति की सामाजिक, आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक विवेचना के साथ ही संगीत का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। निश्चय ही यह छोटी सी पुस्तक सुधी पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

आबू तीर्थोद्धारक दण्डनायक मंत्रीश्वर विमल, लेखक - श्रीमद् विजय पूर्णचन्द्र सूरीश्वर जी म०, अनु० - सिंधी मनोहरलाल केसरीमल, प्रका० पंचप्रस्थान पुण्य स्मृति प्रकाशन, सुमंगलम् कार्यालय, १०/३२६८-ए, काजी का मैदान, गोपीपुरा, सूरत ३९५००२, संस्करण - प्रथम २००४, आकार - डिमाई, पृष्ठ- १०+२३६, मूल्य १००/-

आबूतीर्थोद्धारक दण्डनायक मंत्रीश्वर विमल आचार्य पूर्णचन्द्रसूरीश्वर द्वारा लिखित गुजराती उपन्यास का हिन्दी अनुवाद है। यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जो मंत्रीश्वर विमल एवं उनके कार्यों पर केन्द्रित है। प्रायः यह देखा जाता है कि जो उच्च कोटि के व्यक्ति होते हैं वे अपने नाम की अपेक्षा अपने कार्यों पर अधिक ध्यान देते हैं। मंत्रीश्वर विमल भी इन्हीं में से एक थे। आबू पर्वत पर निर्मित मंदिर जो 'विमलवसही' नाम से प्रसिद्ध है, शिल्प कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। मूल गुजराती पुस्तक का सिंधी मनोहरलाल केसरीमल ने सुन्दर अनुवाद किया है। पुस्तक की भाषा-शैली सरल एवं सहज ही आत्मसात् होने योग्य है। पुस्तक में कुल २६ शीर्षक हैं जो घटनाओं के साथ तारतम्य बनाए हुए हैं। ये हैं कथा प्रवेश, वनराज का वनवास, गुर्जर राष्ट्र का निर्माता, साम्राज्य का साकार होता स्वप्न, प्रतापी पूर्वजों की पुण्य परम्परा, ईर्ष्या की अग्नि, विषम बेला की विदाई, पुनरागमन के पद चिह्नों पर, विमल की वीरता : जैसा पानी तैसी वाणी, दंड के बदले दण्डनायक का पद, शक्ति त्रिवेणी का अवतरण, परिस्थितियों का पर्यावलोकन, विजीगिषा के सामने विद्वत्ता की विजय, विजय की बात : पराजय के प्रत्याघात, धारा के मनसूबे धूल-धूसरित हुए, विजय के पथ पर संग्राम सवारी, मन की मुराद मिट्टी में मिली, गुजरात की गौरव रक्षा, बुद्धिर्यस्य बल तस्य, तुफान को खींचने वाली शांति, राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा,

भाग्य डूबा या सौभाग्य जागा? वारिस की वेदी पर आरस की आराधना, देवनगरी के निर्माण के लिए, नाम से बड़ा काम, विमलवसही तो विमलवसही ही है। इसके साथ ही परिशिष्ट- १ में आबू तीर्थ का अंतिम जीर्णोद्धार और परिशिष्ट - २ में मंत्री विमल विषयक अप्रकट प्रशस्ति ऐतिहासिक ज्ञान से परिपूर्ण है। उपर्युक्त सारे आलेखों में अनुवादक ने भाषा-शैली का पूर्ण ध्यान रखा है जिससे यह पुस्तक अनुवाद होते हुए भी मूल उपन्यास जैसा ही प्रतीत होता है। सुधी पाठक इसे एक बार अवश्य पढ़ें ऐसा हमारा आग्रह है।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (पंचम अध्याय विवेचन); उमास्वाति विरचित, सिद्धसेनगणि विरचित टीका का गुजराती अनुवाद, विवरणकार - आचार्य विक्रमसूरीश्वर जी, सम्पा० जितेन्द्र बी० शाह, प्रका० श्रुतनिधि, शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर, 'दर्शन' शाहीबाग, अहमदाबाद - ३८०००४, आकार - रॉयल, पृष्ठ - ८+५९६, मूल्य - ३५०/-

उमास्वातिविरचित तत्त्वार्थाधिगमसूत्र जैन दर्शन की अमर कृति है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें तत्त्व, ज्ञान, आचार, कर्म, मोक्ष आदि समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन मिलता है। इस ग्रन्थ पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं उतनी शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ की लिखी गई हों। प्रस्तुत ग्रन्थ **तत्त्वार्थसूत्र** पर सिद्धसेनगणि द्वारा की गई टीका का गुजराती अनुवाद है। इसमें सिर्फ पंचम अध्याय का विवेचन है। स्पष्ट है ६०० पृष्ठों में सिर्फ एक अध्याय पर लिखी गई टीका में शायद ही कोई पक्ष अछूता हो। कहना होगा कि इस ग्रन्थ में अजीव तत्त्व का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें अजीव के भेद, द्रव्य और उसका साधर्म्य-वैधर्म्य, प्रदेशों की संख्या, द्रव्यों का स्थितिक्षेत्र, कार्य द्वारा धर्म-अधर्म और आकाश के लक्षण, कार्य द्वारा पुद्गल का लक्षण, कार्य द्वारा जीव का लक्षण, कार्य द्वारा काल का लक्षण, पुद्गल के पर्याय, सत् की व्याख्या, नित्य का स्वरूप, अनेकान्त रूप का समर्थन, बन्ध की विवेचना, द्रव्य का लक्षण, गुण का स्वरूप एवं परिणाम के स्वरूप की विशद व्याख्या की गई है। विवरणकार विक्रमसूरीश्वर जी म०सा० ने गुजराती अनुवाद में मूल भावार्थ का पूरा ध्यान दिया है। गुजराती भाषी पाठकों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त ही उपयोगी है। सहज एवं सरल भाषा शैली पाठक को बार-बार ग्रन्थ को पढ़ने के लिए प्रेरित करती है। आशा है पाठक इस ग्रन्थ को एक बार अवश्य पढ़ेंगे।

- डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय



श्रीमद्धनेश्वरसूरिविरचितं
सुरसुंदरीचरिअं
(द्वितीय परिच्छेद)

मुनिश्री विश्रुतयशविजयकृत
संस्कृत छाया, गुजराती और हिन्दी
अनुवाद सहित

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
२००४

श्रीमद्धनेश्वरमुनीश्वरविरचितं

सुरसुंदरीचरिअं

द्वितीय परिच्छेद

गाहा :-

अह अन्न-वासरम्मी कमेण बहु-बोलियाए अडवीए ।
गहिय जलासयमेगं अह सो आवासिओ सत्थो ॥१॥

संस्कृत छाया :-

अथान्य-वासरे क्रमेण बहुतिकान्तायामटव्याम् ।
गृहीत-जलाशयमेकं अथ स आवासितः सार्थः ॥१॥

गुजराती अर्थ :-

हवे आ बाजु कोई तीजा दिवसे क्रमथी जतां घणुं-खरुं जंगल ओलंगाए-
छते आवेला एक सरोवर पासे ते सार्थे आवास कर्यो (रोकायो)।
हिन्दी अनुवाद :- क्रम से आगे बढ़ते हुए जंगल व्यतीत होने पर एक सरोवर के पास उस सार्थ
ने अपना पड़ाव डाला।

गाहा :-

अह तम्मि सत्थ-लोए उस्महिय-सयल-वसह-नियरम्मि ।
जल-इंधणाइ-अट्टा इओ तओ परियडंतम्मि ॥२॥
पमुक्केसुं दिसि दिसि चरणत्थं सव्व-वसह-महिसेसु ।
पारद्धेसु य तक्कालमुचिय-किच्चेसु लोएण ॥३॥
नाऊण पणिहि-वसओ भोयण-कज्जम्मि आउलं सत्थं ।
सत्थम्मि तम्मि पडिया झडित्ति भिल्लानाण धाडित्ति ॥४॥

छाया :-

अथ तस्मिन् सार्थ-लोके भाराकान्त-सकल-वृषभ-निकरे ।
जल-इंधनाहार्थ-मितस्तातः पर्यटति ॥२॥
प्रमुक्तेषु दिशि दिशि चरणार्थं सर्व-वृषभमहिषेषु ।
प्रारब्धेषु च तत्कालमुचित - कृत्येषु लोकेन ॥३॥
ज्ञात्वा प्रणिधि-वशातः भोजन-कार्ये आकुल-सार्थम् ।
साथे तस्मिन् पतिता झटिति भिल्लानां घाटीति ॥४॥

अर्थ :- इवे भारथी भरेला बधा बलदोना समूहवाळा ते सार्थना लोको पाणी
तथा बलतण माटे अंहि तंहि भमते छते, चरवा माटे पोत पोताना बलदो अने
भैसोने जुदी-जुदी दिशाओमां मूके छते ते ते कालने उचित कार्यमां लोकोजोड़ाये
छते, योताना गुप्तचरो पासेथी भोजन-कार्यमां आकुल सार्थने जाणीने जल्दीथी
भिल्लोनी घाडी ते सार्थमां आवी पडी।

हिन्दी अनुवाद :- भार से आक्रान्त बैलों के समूलवाले उस सार्थ के लोग पानी एवं ईन्धन हेतु

इधर-उधर घूमते थे, तथा बैल एवं भैंसों को भिन्न-भिन्न दिशाओं में चरने के लिए छोड़ी थी और सार्थ के सभी जनों द्वारा समयोचित अपने-अपने कार्यों में व्यस्त होने पर अपने गुप्तचरों से भोजन-कार्य में आकुलित सार्थ को जानकर भीलों की एक टोली उस सार्थ पर आ पड़ी।

गाहा :- अविय ।

जव-मुग्ग-वन्न-अडुण-ढक्किय-आजाणु-भीसण-सरीरा ।
 मसि-रासी इव काला कुविय-कयंतोव्व दुप्पिच्छा ॥५॥
 खर-बीभच्छ-सरीरा पलास-पत्तेहिं विहिय-सेहरया ।
 गुंजा-फल-रत्तच्छा उब्भं-खर-केस-पब्भारा ॥६॥
 संनद्ध बद्ध-कवया पट्टि-पएसा-जवणद्ध-तोणीरा ।
 कन्नायड्ढिय-धणुह-पट्टु-दीसंत-भल्लोडा ॥७॥
 केवि असि-वग्ग-हत्था केवि हु कर-गहिय-लउडया अवरे ।
 गुंफण-फेरण-सुंकारएहिं जीयं व अवणेंता ॥८॥
 धिद्धा निट्टुर-हियया दिसो दिसिं 'मारि मारि' भणमाणा ।
 अन्नाया एव कुओवि + ज्झत्ति भिल्ला समावडिया ॥९॥

छाया :-

नव-मुद्ग वण्णह्णान्छादिताजानु-भीषण-शरीरा ।
 मसि-राशि-रिव कालाः कुपित-कृतान्त इव दुष्प्रेक्ष्याः ॥५॥
 खर-बीभत्स-शरीराः पलाशा-पत्रे विहित-शेखरता ।
 गुज्जा-फल-रत्ताक्षा ऊर्ध्व-खर-केश-प्राग्भाराः ॥६॥
 संनद्ध-षष्ठ-कवचाः पृष्ठ-प्रदेशावन्द्ध-तूणीराः ।
 कर्णाकृष्ट-धनुः-पृष्ठ-दृश्यमान-शिरोऽग्रभागाः ॥७॥
 केऽपि असि-वर्ग-हस्ताः केऽपि खलु कर-गृहीत लकुटका अपरे ।
 गुम्फण-भ्रमण-सुंकारकैः जीवितमिवापनयन्तः ॥८॥
 घृष्टा निष्ठुर-हृदया दिशोदिशं 'मारयत मारयत' भणन्तः ।
 अद्यात्ता एव कृतोऽपि झटिति भिल्लाः समापतिताः ॥९॥

अर्थ :- नवा मगना रंग जेवा चर्मथी ढंकायेला घुंटाण सुधीना भयंकर शरीरवाला, मसिना समूह जेवा काला गुरुसे थयेला यमराज जेवा जोड़ न शकाय तेवा, खरबचडा अने बिभत्स शरीरवाला, पलाशना पांदडानी धारणकरेली माला वाला, गुंजाना फल जेवी लाल आँखवाला, उभा रूक्ष वालना समूहवाला, सारी रीते तैयारथयेला बद्ध कवचवाला, पीठ उपर खखेला भाथा वाला, कानसुधी खँचायेला धनुष्यना पाछल देखाता बाणना अग्र भागवाला, वळी केटलाक तलवारना समूह युक्त हाथवाला, केटलाक हाथमां ग्रहण करेली लाकडीवाला, केटलाक पत्थर फेंकवाना अस्त्र विशेष घूमावीने अव्यक्त अवाज द्वारा लोकोना प्राणनो नाश करतां, निर्लज्ज-निष्ठुर हृदयवाला दशे दिशामां मारो-मारो बोलतां खबर न पड़े तेम क्यांकथी झपाटा बंध भिल्लो आवी पड्या.

हिन्दी अनुवाद :- नूतन मूंग के रंग जैसे चर्म से घुटने तक आच्छादित, भयंकर शरीरवाले, मसि के समूह जैसे काले, क्रोधित यमराज जैसे, दिखने में भयंकर, कर्कश और वीभत्स शरीरवाले, पलाश के पर्ण की माला को धारण किए हुए, गुँजाफल जैसी लाल आँख वाले, रूक्ष बालों के समूहवाले, अच्छी तरह से कवच को धारण किये हुए, पीठ पर स्थापित किए भाथेवाले, कान तक आकृष्ट धनुष के पीछे देखते बाण के अग्र भागवाले, अनेक तलवारों से युक्त, हाथ में गृहीत लकड़ीवाले, कितने लोग पत्थर फेंकने के अस्त्र विशेष को घुमाकर अव्यक्त आवाज से लोगों के प्राण को हरनेवाले, निर्लज्ज-निष्ठुर दशों दिशाओं में मारोकाटो बोलते अज्ञात रीति से अति चपलता से भील आ गये।

गाहा :-

पडिएसु तओ तेसुं सत्थो सव्वो वि आउलीभूओ ।
भिल्लाण पउर-भावा-वक्खेवा सत्थ-पुरिसाण ॥१०॥

छाया :-

पतितेषु ततस्तेषु सार्थः सर्वोऽपि आकुलीभूतः ।
भिल्लानां प्रचुरभावात् व्याक्षेपात् सार्थ - पुरुषाणाम् ॥१०॥

अर्थ :-

भिल्लो घणा होवाथी तथा सार्थ पुरुषोनी व्यग्रता होवाथी त्यां ते भील्लो आवे छते समस्त सार्थ व्याकुल थयो।

हिन्दी अनुवाद :- भील लोगों के बहुत होने से तथा सार्थ के कुछ पुरुषों की व्यग्रता से समस्त सार्थ व्याकुलित हुआ।

गाहा :-

अह तम्मि सरण-रहिण् लहसिज्जंते समत्थ-सत्थम्मि ।
दप्प-परिपूरियंगा हक्किय जंपंति के वि नरा ॥११॥

छाया :-

अथ तस्मिन् शरण-रहिते सस्यमाने समस्त सार्थ ।
दर्प-परिपूरिताङ्गा निषिद्धा जल्पन्ति केऽपि नराः ॥११॥

अर्थ :-

हवे ते सम्पूर्ण सार्थ शरण रहित सरक्वा माण्डयो त्यारे निषेधकरायेला छतां अभिमानथी भरेला केटलाक पुरुषो बोलता हता।

हिन्दी अनुवाद :- अब वह सम्पूर्ण सार्थ शरण रहित हटने लगा तब निषेध करने पर भी घमंडी पुरुष इस तरह बोलने लगे।

गाहा :-

रे ! रे ! पिसाय-रूवा ! कत्थिण्हं जाह दिट्ठि-पह-पडिया ।
पयडह सव्वं जइ अत्थि तुम्हमिह पोरिसं किंपि ॥१२॥

छाया :-

रे ! रे ! पिशाच-रूपाः ! कुत्रेदानीं यास्यथ दृष्टि-पथपतिताः ।
प्रकटयत सर्वं यदि अस्ति युष्माकमिह पौरुषं किमपि ॥१२॥

अर्थ :- हे ! हे ! पिशाचो ! अत्यारे तमे क्यांथी नजरे आवी पडया ? खस्ती जाव,
तमारामां जो ताकात होय तो ते सर्व प्रकट करो.

हिन्दी अनुवाद :- हे ! हे ! पिशाचों ! अभी तुम कहाँ से यहाँ आ गए। चले जाओ, तुम्हारे में
जो भी शक्ति है उस शक्ति को प्रगट करो।

गाहा :-

केवि पुण भीरु-हियया वरया दसण-उड-गहिय-अंगुलिणो ।

हा ! हा ! रक्खह रक्खह एवं कलुणाइं जंपंति ॥१३॥

छाया :-

केऽपि पुनः भीरुहृदयाः वरका दशान-पुट गृहिताङ्गुलयः ।

हा ! हा ! रक्षत ! रक्षत एवं करुणाणि जल्पन्ति ॥१३॥

अर्थ :- केटलाक डरपोक हृदयवाला गरीबड़ा मुखनी अंदर मुकेली आंगलीवाला
हा-हा अमारु रक्षण करो, रक्षण करो ए प्रमाणे करुण विलाप करता हता।

हिन्दी अनुवाद :- कितने डरपोक हृदयवाले गरीब, मुख के अंदर अंगुली रखकर हा-हा-हमारा
रक्षण कीजिए, रक्षण कीजिए इस तरह करुण विलाप करने लगे।

गाहा :-

के वि हु लुंटिज्जंता इओ तओ तह पहम्ममाणा य ।

कीवा पलायणट्टा तथ गवेसंति छिद्दाणि ॥१४॥

छाया :-

केऽपि खलु लुण्टयमाना इतस्ततः तथा प्रहण्यमानाश्च ।

वलीबाः पलायनार्थं तत्र गवेषयन्ति छिद्दाणि ॥१४॥

अर्थ :- केटलाक आ प्रमाणे लुंटाता अने हणाता नपुंसको जेवा अहीं तहीं
भागवामाटे त्यां रस्तो शोधता हता.

हिन्दी अनुवाद :- कितने ही लोग नपुंसक जैसे इधर-उधर भागने के लिए रास्ता खोजने लगे।

गाहा :-

केवि कहकहवि पाविय-छिद्दागाढं च खसफसेमाणा ।

सणियं सणियं ओसक्किऊण लीयंति गहणेसु ॥१५॥

छाया :-

केऽपि कथंकथमपि प्रापित-छिद्दागाढं च स्वखलन्तः ।

शानैः शानैरपसृत्य लीनन्ति गहनेषु ॥१५॥

अर्थ :- केटलाक अधीरा वली स्वखलना यामता महामहेनते गाढ छिद्रने प्राप्त
करीने धीरे धीरे सरकीने गहनवनमां छुपाई गया.

हिन्दी अनुवाद :- कुछ अर्धैरवान् स्वखलित होते हुए अति परिश्रम से गाढ छिद्र को प्राप्त कर
के धीरे-धीरे खिसक कर गहनवन में छुप गये।

गाहा :-

केवि हु तेविर-देहा सिढिलीकय-कच्छ-बंधणा धणियं ।

पमुक्क-पुरिसयारा अंगीकय-दीण-जण-चेट्टा ॥१६॥

छाया :-

केऽपि खलु वेपनशीलदेहाः शिथिलीकृत-कक्ष-बन्धनाः गाढम् ।

प्रमुक्त पुरुषकारा अङ्गीकृत-दीन-जन चेष्टाः ॥१६॥

अर्थ :- केटलाक धूमता शरीरवाला, ढीला करेला का छडीनां बंधनवाला, त्याग करेला पौरुषत्ववाला, कायर लोकोनी चेष्टाओनो अंगीकार करेला.

हिन्दी अनुवाद :- कुछ कम्पित शरीरवाले, शिथिल किये हुए कक्ष-बन्धन वाले, व्यंजित पौरुषत्ववाले कायर लोगों की चेष्टाओं को अंगीकार करने लगे।

गाहा :-

परिचत्त-सयल-लज्जा कहकहमवि मोक्खणं विमग्गंता ।

तेसिं चिय पावाणं कुणंति बहु-चाडु-कम्माणि ॥१७॥

छाया :-

परित्यक्त-सकल-लज्जाः कथकथमपि मोक्षणं विमार्गयन्तः ।

तेषामेव पापानां कुर्वन्ति बहु-चाटु-कर्माणि ॥१७॥

अर्थ :- त्यक्त सर्व लज्जावाला, गमे ते रीते छूटवानो मार्ग शोधेल, ते पापीओनाज घणी खुशामत करवा लाग्या.

हिन्दी अनुवाद :- निर्लज्ज, किसी भी तरह छूटने के मार्ग को ढूढते, वही पापियों के ही चाटु कर्म करने लगे।

गाहा :-

केवि हु मयमिव भू-पट्टि-संठियं अप्पयं पयंसंति ।

केविहु छुहंति गंठिं महीए पक्खाणि जोएसा ॥१८॥

छाया :-

केऽपि खलु मृतमिव भू-पृष्ठ-संस्थितं आत्मानं प्रदर्शयति ।

केऽपि खलु क्षिपन्ति ग्रन्थिं मह्यां पक्षाणि योजयित्वा ॥१८॥

अर्थ :- केटलाक मडदानी जेम पृथ्वीनीपीट्ट उपर रहेलां पोताने बतावता हता वली केटलाक बे हाथ जोडीने (डरीने) पृथ्वी ऊपर पोतानी गांठडी फेंकता हता।

हिन्दी अनुवाद :- कितने ही मृत की तरह पृथ्वी पर रहे हुए अपने को दिखाते थे और कुछ लोग अञ्जली जोड़कर पृथ्वी पर अपनी गठरी फेंकते थे।

गाहा :-

जे वि हु इहो तओ इंधणाइ-अट्टा गयासि सत्थाओ ।

तेवि हु कल-यल-सहं सोउं वच्चंति दूरयरं ॥१९॥

छाया :-

येऽपि हि इतस्तत इन्धनाधर्थं गत्वा आसन् सार्थात् ।

तेऽपि खलु कलकल शब्दं श्रुत्वा ब्रजन्ति दूरतरम् ॥१९॥

अर्थ :- जो लोको सार्थथी दूर बलतण माटे अहीं-तहीं गया हता तेओ पण कोलाहल ना शब्दो सांभलीने सार्थथी वधारे दूर जता रह्या.

हिन्दी अनुवाद :- जो लोग ईधनादि लेने को सार्थ से दूर गये थे वे भी कोलाहल के शब्द सुनकर सार्थ से और भी दूर चले गये।

गाहा :-

रे ! लेह हणह बंधह मारह वयणाइं भरह धूलीए ।
सुम्मंति तत्थ सत्थे दिसि दिसि एवंविहा सहा ॥२०॥

छाया :-

रे ! लात हत बध्नीत मारयत वचनानि भरत धूलया ।
श्रूयन्ते तत्र सार्थे दिशि दिशि एवंविधा शब्दाः ॥२०॥

अर्थ :- अरे पकड़ो हणो (मारो) बांधो धूलवडे भरओ, आपा पयनो, त्यां सार्थमां दथो दिशामां (आवा शब्दो) संभलापका लाग्या।

हिन्दी अनुवाद :- अरे रे ! पकड़ो, मारो, बांध दो, मिट्टी से भर दो, वहां ऐसे वचन सार्थ में दशों दिशाओं से सुनाई देने लगे।

गाहा :-

एयावसरम्मि तओ पासित्तु इओ तओ विलुम्पंतं ।
भिल्लेहिं सत्थ-लोयं कइवय-निय-पुरिस-परियरिओ ॥२१॥

छाया :-

एतदवसरं ततः दृष्ट्वा इतस्ततः विलुम्पन्तम् ।
भिल्लेभ्यः सार्थ-लोकं कतिपय-निज-पुरुष-परिवृत्तः ॥२१॥

हिन्दी अनुवाद :- उस समय इधर उधर दौड़ते हुए भिल्लों को देखकर अपने चुन्दे मनुष्यों के साथ खड्गयुक्त हाथवाला-

गाहा :-

उप्पाएंतो तेसिं आगिइए चेव चित्त-संखोहं ।
वसुनंदय-खग्ग-करो धणदेवो एवमुल्लवइ ॥२२॥

छाया :-

उत्पादयन् तेभ्यः आकृत्या एव चित्त-संक्षोभम् ।
वसुनन्दक-खड्ग-करो धनदेव एवमुल्लपति ॥२२॥ - युग्मम्

अर्थ :- एटली वारमां त्यां आमतेम नासता भिल्लोनी साथे सार्थना लोकोने जोइने पोताना केटलाक माणसोनी साथे घेरायेलो वसुनंदक नामना खड्ग (तलवार) युक्त हाथवालो अने आकृतिथी ज तेओने चित्तमां क्षोभं उत्पन्न करतो एवो धनदेव आ प्रमाणे बोलवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद :- और देखने मात्र से भयंकर आकृतिवाला, चित्त में भय उत्पन्न करनेवाला वसुनंदक खड्गयुक्त धनदेव इस तरह बोलने लगा।

गाहा :-

रे ! रे ! पावा ! जइ अत्थि तुम्ह इह कावि दथ-कंडूई ।
ता हवह मज्झ पुरओ सहसा तं जेण अवणेमि ॥२३॥

छाया :-

रे ! रे ! पापा ! यद्यस्ति युष्माकमिह कापि दर्प-कण्डूतिः ।

ततः भवत मम पुरतः सहसा तद् येन अपनयामि ॥२३॥

अर्थ :- रे ! रे ! पापीओ ! जो तमने कोई पण प्रकारे अहंकारनी खुजली आवती होय तो मारी सामे आवो हुं तमारी खणज ने दूर करी दउं.

हिन्दी अनुवाद :- रे ! रे ! पापिष्ठ ! यदि तुम को किसी प्रकार से अहंकार की खुजली आती हो तो मेरे सामने आओ मैं तुम्हारी खुजली को दूर करूंगा।

गाहा :-

मा भणह जं न भणियं एस कस-वट्टओ सुपुरिसाण ।

न हि निय-जुवइ सलहिया पुरिसा पुरिसत्तणमुवेति ॥२४॥

छाया :-

मा भणत यद् न भणितं एष कषपट्टकः सुपुरुषाणाम् ।

न हि निज युवति-श्लाघिताः पुरुषाः पुरुषत्वमुपयन्ति ॥२४॥

अर्थ :- पछी एम नहीं कहेतां के मने कह्यु न हतुं खरेखर पुरुषोनी तो आ कसौटी छे. मात्र पोतानी पत्नीथी प्रसंसीत करायेला पुरुषो पुरुषत्व प्राप्त करतां नथी.

हिन्दी अनुवाद :- फिर ऐसा मत कहना कि मुझे कहा नहीं था, वीर पुरुषों की यह तो कसौटी है, सिर्फ अपनी पत्नी से प्रशंसित पुरुष पुरुषत्व प्राप्त नहीं करते हैं।

गाहा :-

हा ! धी ! धी ! एयस्स उरे ! दुट्ठा ! तुम्ह पुरिसगारस्स ।

नासंत-लोय-पट्टी-धावण-उवलद्ध-पसरस्स ॥२५॥

छाया :-

हा ! धिक् ! धिक् ! एतस्य तु रे ! दुष्टाः युष्माकं पुरुषकारस्य ।

नश्यत् - लोक-पृष्ठ-धावणुपलाब्ध प्रसारस्य ॥२५॥

अर्थ :- अरे ! धिक्कार छे ! धिक्कार छे ! अरे दुष्टो ! नासता लोकनी पाछळ-दोडवाथी प्राप्त थयेला विस्तारवाला तमारा आवा प्रकारनां पुरुषत्वने धिक्कार हो.

हिन्दी अनुवाद :- अरे ! धिक्कार हो ! धिक्कार हो ! अरे दुष्टों ! भागते हुए लोगों के पीछे दौड़ने से तुम्हारे इस प्रकार के पुरुषत्व को भी धिक्कार हो !

गाहा :-

एवं च निसामित्ता दोच्चं तच्चं समुल्लवत्तस्स ।

धणदेवस्सुल्लावे सुहडाणवि भूरि-भय-जणगे ॥२६॥

रे ! रे लेह इमस्सवि फंडेमो धीरयं किराडस्स ।
एवं समुल्लवंता वलिया ते झत्ति तयभिमुहं ॥२७॥

छाया :-

एवं च निशाम्य द्विः त्रिः समुल्लपतः ।
धनदेवस्योल्लापान् सुभटेभ्योऽपि भूरि-भय जनकान् ॥२६॥
रे ! रे ! लात अस्यापि भंशयागः धीरतां किरातस्य ।
एवं समुल्लपन्तः वलितास्ते झटिति तदभिमुखम् ॥२७॥

अर्थ :- आ प्रमाणे बे-त्रण वार बोलतां, सुभटोने पण घणो भय पेदा करनार धनदेवना आलापोने सांभलीने.....

अरे ! रे ! पकड़ो आने पण मारी नांखीये, भिल्लनी धीरता जूओ, आ प्रमाणे बोलता तेओ झल्दीथी ते तरफ वळया.

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार दो-तीन बार बोलते सुभटों को भी अतिभय उत्पन्न करनेवाले धनदेव के उल्लापो को सुनकर अरे ! रे ! पकड़ो इन्हें भी मार डालो, भिल्ल की धैर्यता तो देखो, इस प्रकार बोलते हुए जल्दी से उस तरफ गए।

गाहा :-

पत्ता य आहसंता धणदेवस्संतियं समंता ते ।
तिक्खासि-कोंत-तोमर-भल्लीहि य पहरिउं लग्गा ॥२८॥

छाया :-

प्राप्ताश्याहसन्तः धनदेवस्यान्तिकं समन्तात् ते ।
तिक्ष्णासि-कुंत-तोमर-भल्लीभिश्च प्रहर्तुं लग्नाः ॥२८॥

अर्थ :- तेओ थोड़ुं-थोड़ुं हसतां धनदेवनी नजीक पहुँची गया अने चारे बाजुथी तीक्ष्ण-तलवार-भाला-तीर अने भालाओ वड़े तेना ऊपर प्रहार करवा लाग्या.

हिन्दी अनुवाद :- वे लोग थोड़ा-थोड़ा हंसते हुए धनदेव के पास पहुंचकर चारों ओर से तीक्ष्ण तलवार-तोमर और भालों से प्रहार करने लगे।

गाहा :-

धणदेवोवि असंको तहा पयट्टेसु तेसु भिल्लेसु ।
ताणामुरमोडिऊणं कुणइ निय-पोरिसं पयडं ॥२९॥

छाया :-

धनदेवोऽप्यशंकस्तथा प्रवृत्तेषु वेषु भिल्लेषु ।
तेषामुरमोटयित्वा करोति निज-पीरुषं प्रकटम् ॥२९॥

अर्थ :- ते भिल्लो तेवा प्रकारे प्रवृत्त थये छते शंकारहित एवो धनदेव तो ओनी आगल खुल्ली छाती राखीने पोताना पुरुषार्थने प्रकट करे छे.

हिन्दी अनुवाद :- उन भिल्ल लोगों के इस प्रकार चारों ओर से प्रहार करने पर भी निःशंकित धनदेव उनके आगे अपना पुरुषार्थ प्रकट करता है।

गाहा :-

जह जह ते भिल्ल-नरा देंति पहारे दढं दया-हीणा ।
धनदेवो उण तह तह अब्भसिय-कलो पवंचेइ ॥३०॥

छाया :-

यथा यथा ते भिल्ल-नरा ददति प्रहारान् षढं दया-हीणाः ।

धनदेवः पुनस्तथा तथा अभ्यस्त कलः प्रवज्यति ॥३०॥

अर्थ :- जेम जेम ते दयावगरना भीलना माणसो हठ प्रहार देवा लाग्या तेम,
तेम धनदेव पण पोतानी जाणेली कला बताववा लाग्यो.

हिन्दी अनुवाद :- दयाहीन भिल्लजन जैसे जैसे दृढ़प्रहार करने लगे वैसे वैसे धनदेव भी अपनी
कला दिखाने लगा।

गाहा :-

अविय फरण केविहु इओ तओ केवि काय-करणेणं ।

केवि हु दूराउच्चिय एते खग्गाभिधाएण ॥३१॥

छाया :-

अपि च स्फुरकेण केऽपि खलु इतस्ततः केऽपि काय-करणेण ।

केऽपि खलु दूरादेव खड्गाभिघातेण ॥३१॥

अर्थ :- वली कोईकने फरक नामना अस्त्रवडे तो वली कोईकने कायानी क्रियावडे
अने कोइकने वली (अस्त्र) दूरथी खड्गना घातवडे.

हिन्दी अनुवाद :- और किसी को फरक नाम के अस्त्र से तो किसी को काया की क्रिया से तो
किसी को दूर से ही खड्ग के घातद्वारा।

गाहा :-

कहकहवि हु भिल्लेहिं गहिओ फरएहिं उडुहेऊण ।

भणियं च तेहिं रे ! रे ! एसो सत्थाहिवो वणिओ ॥३२॥

छाया :-

कथं कथमपि खलु भिल्लैः गृहीतः स्फुरकैः ।

भणितं च तैः रे ! रे ! एषः सार्थाधिपः वणिकः ॥३२॥

अर्थ :- गमे ते रीते भिल्लतोवडे अस्त्रविशेषवडे ग्रहण करायो अने तेओ वडे
कहेवायो के अरे रे ! आज वाणीयो सार्थनो मालिक छे.

हिन्दी अनुवाद :- किसी भी प्रकार से भिल्लों ने अस्त्रविशेष ग्रहण किया और उन्हीं के द्वारा
कहा गया कि अरे ! यही सार्थ का नायक है।

गाहा :-

ता बंधिऊण एयं अक्खय-देहं तु पल्लि-नाहस्स ।

अप्येमो जेणेसो देइ वणिओ घणं बहुयं ॥३३॥

छाया :-

तस्मात् बद्धवा एत-मक्षत-देहं तु पल्लिनाथाय ।

अर्पयामः येनेषः ददाति वणिकं धनं बहुकम् ॥३३॥

अर्थ :- तेथी तेने बांधीने अक्षत देहवाळा तेने पल्लीपतिने सौपीशु-जेथी आ वाणीओ, थणु धन आपशे.

हिन्दी अनुवाद :- अतः अक्षतांगवाले नायक को बांधकर पल्लीपति को अर्पित करेंगे, जिससे ये वणिक लोग हमें बहुत धन देंगे।

गाहा :-

तत्तो य तेहिं गंतुं पल्लीवइणो समप्पिओ एसो ।
एत्थंतरम्मि दिट्ठो धणदेवो देवसम्मेष ॥३४॥

छाया :-

ततश्च तै-र्गत्वा पल्लिपतये समर्पित एषः ।
अत्रान्तरे दृष्टो धनदेवो देवशर्मणः ॥३४॥

अर्थ :- त्यारपछी तेओवडे जईने पल्लिपतिने सौप्यो एटलीवारमां देवशर्मा वडे धनदेव जोवायो.

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् भिल्लों ने उसे पल्लिपति को अर्पित किया इतनी ही देर में देवशर्मा ने धनदेव को देखा।

गाहा :-

तत्तो य तेण भणिओ सदुक्खमेवं तु पल्लि-नाहस्स ।
हा ! हा ! सामिय ! एसो महानुभावो स धणदेवो ॥३५॥

छाया :-

ततश्च तेन भणितः सदुक्खमेवं तु पल्लिनाथाय ।
हा ! हा ! स्वामिक ! एषो महानुभावो सो धनदेवः ॥३५॥

अर्थ :- अने त्यारपछी तरतज अत्यंतदुःखपूर्वक पल्लिपतिने आ प्रमाणे कहयु हा ! अरे ! स्वामि ! आ महानुभावतो ते धनदेव छे !

हिन्दी अनुवाद :- फिर अत्यंतदुःखपूर्वक पल्लिपति ने इस प्रकार कहा- हा ! अरे ! स्वामि ! यह महानुभाव तो धनदेव है !

गाहा :-

जेण तया तुह तणओ जोगिय-गहिओवि मोइओ आसि ।
दाउं सुवन्न-लक्खं निक्कारण-वच्छलेणं तु ॥३६॥

छाया :-

येन तदा तव तनयो योगि-गृहीतोऽपि मोचित आसीत् ।
दत्त्वा सुवर्ण-लक्षं निष्कारण-वात्सल्येन तु ॥३६॥

अर्थ :- जेना वडे त्यारे तारो पुत्र योगिओवडे ग्रहण करायेलो पण लाख-सोना-महोरो आपीने निष्कारणा प्रेमवडे छोडावायो हतो ! (ते आ धनदेव छे).

हिन्दी अनुवाद :- योगियों से जब तेरा पुत्र अपहृत किया गया था तब लाख-सुवर्ण मुद्रा देकर निष्कारणा प्रेम से बचानेवाला यह धनदेव है !

गाहा :-

जयसेण-कुमार-जीविय-दाया धनधम्म-सेट्टि-पुत्तो सो ।
परमुवयारी सामिय ! कहणु अहन्नेहिं विहिउत्ति ॥३७॥

छाया :-

जयसेन-कुमार-जीवित-दाता धनधर्म-श्रेष्ठि-पुत्रः सः ।
परमोपकारी स्वामिन् ! कथं नु अधन्यैः विहितेति ? ॥३७॥

अर्थ :- हे स्वामिन् ! जयसेन कुमारने जीवनदान आपनार तथा धनधर्म (धनदेव) नामना श्रेष्ठीनो पुत्र परम उपकारी अने अेनीसामे अधन्य एवा आपणा वड़े शु करायु ?

हिन्दी अनुवाद :- हे स्वामिन् ! जयसेन कुमार को जीवनदान देनेवाला तथा धनधर्म नामक श्रेष्ठि पुत्र परम उपकारी धनदेव और उसकी ओर अधन्य ऐसा अपने द्वारा यह क्या किया !

गाहा :-

इय देवसम्म-भणियं सोउं संभंत-लोयणो सहसा ।
अह भगइ सुप्पइट्ठो मुंचह मुंचह महाभागं ॥३८॥

छाया :-

इति देवशार्मा-भणितं श्रुत्वा सम्भ्रांत-लोचनः सहसा ।
अथ भणति सुप्रतिष्ठः मुञ्चत मुञ्चत महाभागं ॥३८॥

अर्थ :- आ प्रमाणे देवशार्मानुं कहेलु सांभलीने संभ्रांत नयनवालो सुप्रतिष्ठे एकदम हवे कहयुं, आ महाभागने छोड़ी दो छोड़ी दो.

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार देवशर्मा का कथन सुनकर संभ्रांत नयनवाला सुप्रतिष्ठ सहसा इस प्रकार बोला - इस पुण्यवान् को छोड़ दो छोड़ दो

गाहा :-

पास-द्विय-पुरिसेहिं तक्खणमुच्छोठिया य से बंधा ।
पल्ली-वइणा ताहे अवगूढो सायरं एसो ॥३९॥

छाया :-

पार्श्व-स्थितपुरुषैः तत्क्षणमुच्छोठिताश्च तस्य बन्धाः ।
पल्लि-पतिना तरुमात् अवगूढ सादरं एषः ॥३९॥

अर्थ :- बाजुमां रहेला पुरुषोवड़े तेज क्षणे तेना बन्धन छोडाया अने पल्लिपति बड़े आदरपूर्वक आलिङ्गन करायुं.

हिन्दी अनुवाद :- पास में रहे पुरुष द्वारा उसी क्षण उनके बन्धन काटे गए और पल्लिपति द्वारा बड़े आदर से उसका आलिङ्गन किया गया।

गाहा :-

तत्तो विहिय पणामो तक्कालमुचियम्मि आसणे दिन्ने ।
पास-द्विय पुरिसेहिं उवविट्ठो तत्थ धणदेवो ॥४०॥

छाया :-

ततो विहितः प्रमाणस्तत्कालमुचिते आशाने दत्ते ।

पार्श्व-स्थितपुरुषैरूपाविष्टः तत्र धनदेवो ॥४०॥

अर्थ :- त्याच बाद पासो रहेला पुरुषो बडे ते कालने उचित आसन अपाये छते करेला प्रणामवालो धनदेव त्यां बेठो.

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् पास रहे पुरुषों द्वारा दिये गये उचित आसन पर प्रणामपूर्वक धनदेव वहाँ बैठा।

गाहा :-

ततो य दीह दीहं नीससीय विसाय-गभिषणं एवं ।

लज्जावणमिय-वयणो पल्लि-वई भणितुमाढत्तो ॥४१॥

छाया :-

ततश्च दीर्घ-दीर्घं निःश्वास्य विशाद-गर्भितमेवम् ।

लज्जावन्मिमत-वदनः पल्लिपती भणितुमारब्धः ॥४१॥

अर्थ :- फिर पछी खूब लांबा नीसास्ता नांखीने अने लज्जाथी नमेला मुखवाळा विषादयुक्त पल्लिपति आ प्रमाणे कहेवानो प्रारंभ कर्यो !

हिन्दी अनुवाद :- फिर खूब लंबी निःश्वास लेकर विषादयुक्त लज्जा से नमित मुखवाले पल्लिपति ने इस प्रकार कहना प्रारंभ किया-

गाहा :-

परगुवगारित्ति तुमं उवेच्च किल होसि अह् ददुव्वो ।

नवरं गिहागयस्सवि सागयमेवंविहं विहियं ॥४२॥

छाया :-

परमोपकारीति त्वामुपेत्य किल भवसि अरुमभयं दृष्टव्यः ।

नवरं गृहागतस्यापि स्वागतमेवंविधं विहितम् ॥४२॥

अर्थ :- घरे आवेला एवा तमारुं स्वागत अमारुबडे करायुं तो परम उपकारी एवा तमने पागीने अमे तमने शुं मोतुं बतावीए ?

हिन्दी अनुवाद :- परमोपकारी गृहांगन में आए हुए आपको पाकर इस प्रकार आपका स्वागत किया गया अब हम अपना मुख भी आपको कैसे दिखायें ?

गाहा :-

जायइ अवगार-फलो विहिओ पावाणं अहव उवयारो ।

सप्यस्स जहा दित्रं दुद्धपि विसत्तणमुवेइ ॥४३॥

छाया :-

जायते अपकार-फलो विहितः पापानां अथवा उपकारः ।

सर्पस्य यथा दत्तं दुग्धमपि विषत्वमुपैति ॥४३॥

अर्थ :- खरेखर पापीओ उपर करेलो उपकार पण अपकारना फलवालो थाय छे, जेम सांपने आपेलु दूध पण झेर बनी जाय छे.

हिन्दी अनुवाद :- निश्चय ही पापी पर किया हुआ उपकार भी अपकार का फल देनेवाला रहता है, जैसे सर्प को दिया हुआ दूध भी जहर बन जाता है।

गाथा :-

पावो अहं कयगघो सुय-जीविय-दायगस्स जेणज्ज ।
गिहमागयस्स एवं अहम्म-कम्मं समाचरियं ॥४४॥

छाया :-

पापोऽहं कृतघ्नः सुत-जीवित-दायकस्य येनाद्ये ।
गृहमागतस्य स्तं अघर्म-कर्म-समाचरितं ॥४४॥

अर्थ :- वली तुं केवो पापी अने कृतघ्नी छुं के पुत्रना जीवनदाता के जे आजे घरे आवेला तेना प्रति मे केवु अधर्मरूप आचरण कर्तुं !

हिन्दी अनुवाद :- फिर, मैं कैसा पापी और कृतघ्नी हूँ कि - पुत्र को जीवित अर्पण करनेवाले अतिथि के सहसा घर पर आने पर भी मैंने उन पर कितना अधर्म किया।

गाथा :-

भणियं घणदेवेणं कीस इमं वहह गुरु-विसायति ।
अत्राणं अवरज्झइ को दोसो एत्थ तुम्हाणं ॥४५॥

छाया :-

भणिनं धनदेवेन कस्मादिदं वहत गुरु-विषादमिति ।
अज्ञानमपराध्यति को दोषोऽत्र तव ? ॥४५॥

अर्थ :- त्प्यारे धनदेवे कह्यु के तमे शा माटे आटलो बधो विषाद धारण करो छो? आ तो अज्ञाननो अपराध छे, तेमां तमारो शो दोष छे ?

हिन्दी अनुवाद :- तब धनदेव ने कहा कि तुम क्यों इतना विषाद करते हो ? यह तो अज्ञानता का अपराध है, उसमें आपका क्या दोष है ?

गाथा :-

ददंतुं अणन्न-सरिसं भिल्ल-वई तस्स वयण-विन्नाणं ।
रूवं तह सुयणत्तं पुणोवि अइंरंजिओ भणइ ॥४६॥

छाया :-

दृष्ट्वा अनन्य-सदृशं भिल्ल-पतिस्तस्य वचन-विज्ञानम् ।
रूपं तथा सृजन्तत्वं पुनरपि अतिरञ्जितो भणति ॥४६॥

अर्थ :- पल्लिपति धनदेवनां असाधारण मुखनां भावो रूप तथा सज्जनता जोइने अति खुश थयेलो फरी कहेवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद :- पल्लिपति धनदेव के मुख के असाधारण भाव एवं सज्जनता देखकर अति हर्षित होते हुए कहने लगा -

गाथा :-

पेच्छह एगम्मि नरे केत्तिय-गुण-समुदओ समं वसइ ? ।
बहु-रयणा हु वसुमई सच्चो लोय-प्यवाओऽयं ॥४७॥

छाया :-

प्रेक्ष्यत एकस्मिन्नरे कियत्-गुण-समुदायः समं वसति ? ।

बहु-रत्ना खलु वसुमती सत्यो लोक-प्रवादोऽयम् ॥४७॥

अर्थ :- जुओ ! एकज माणसमां केटलो गुण समूह साथे रहे छे। खरेखर !

‘बहुरत्ना वसुंधरा’ ए प्रमाणे लोकोनो आ प्रवाद सत्य छे।

हिन्दी अनुवाद :- देखो ! एक ही मानव में कितने गुण समूह साथ में रहते हैं। निश्चय ही ‘बहुरत्ना वसुंधरा’ इस प्रकार की लोकोक्ति सत्य है।

गाथा :-

धी ! धी ! मह पुरिसत्तं धी ! धी ! मह एरिसाए वित्तीए ।

निय-कुल-कलंक-भूयस्स मज्झ धी ! पुरिस - जम्मेण ॥४८॥

छाया :-

धिक् ! धिक् ! मम पौरुषत्वं धीक् ! धीक् ! ममेहशया-वृत्त्या ।

निज-कुल-कलंक-भूतस्य मम धीक् ! पुरुष-जन्मना ॥४८॥

अर्थ :- धिक्कार छे मारा पुरुषत्वने ! मारी आवा प्रकारनी वृत्तिने धिक्कार हो ! धिक्कार हो ! पोताना कुलने कलंकरूप मारा नर जन्मने धिक्कार हो ! धिक्कार हो !

हिन्दी अनुवाद :- धिक्कार हो मेरे पुरुषत्व को, धिक्कार हो ! मेरी इस प्रकार की वृत्ति को, धिक्कार हो ! अपने कुल के कलंकरूप मेरे नर जन्म को धिक्कार हो ! धिक्कार हो !

गाथा :-

धी ! मज्झ जीविण कुकम्म-निरयस्स धम्म-रहियस्स ।

एयारिस-पुरिसाणं लुण्ठण-कम्ममि निरयस्स ॥४९॥

छाया :-

धिक् मम जीवितेन कुकर्म निरतस्य धर्म-रहितस्य ।

एतद्दिशा-पुरुषाणां लुण्ठन-कर्मणि निरतस्य ॥४९॥

अर्थ :- कुकर्ममां रत, धर्म रहित आवा प्रकारनां पुरुषने लुटवामां अत्यंत रत एवा मारा जीवितने धिक्कार हो।

हिन्दी अनुवाद :- कुकर्म में रत, धर्म रहित, इस प्रकार के पुरुष को लूटने में अत्यंत रत ऐसे जीवित को भी धिक्कार हो।

गाथा :-

एत्तियमेत्तेणं चिय धन्नोऽहं जं महाणुभावस्स ।

अक्खय-देहस्स इमस्स दंसणं झत्ति संजायं ॥५०॥

छाया :-

एतद् मग्निणैव धन्योऽहं यद् महानुभावस्य ।

अक्षत-देहस्य एतस्य दर्शनं झटिति संजातं ॥५०॥

अर्थ :- एतला प्रमाणमां ज हुं धन्य छुं के जे आ महात्माना अखण्ड देहनुं दर्शन जल्दी थयुं।

हिन्दी अनुवाद :- इतने ही प्रमाण में धन्य हूँ कि - ऐसे महात्मा के अक्षत देह का दर्शन जल्दी हुआ।

गाहा :-

जइ पुण होज्ज विवत्ती समयं भिल्लेहिं जुज्जमाणस्स ।
ता कह मज्झ अउन्नस्स होज्ज पावस्स नित्थारो ? ॥५९॥

छाया :-

यदि पुनः भवेत् विपतिःसमकं भिल्लैः युध्यमानस्य ।
तर्हि कथं ममापुण्यस्य भवेत् पापस्य निरुत्तारः ॥५९॥

अर्थ :- जो भिल्लोनी साथे युद्ध करता, धनदेवनो विनाश थइ गयो होत तो पापात्मा एवो मारा पापथी निरुत्तार केवी रीते थात !

हिन्दी अनुवाद :- यदि भिल्लों के साथ युद्ध करते धनदेव का विनाश हो गया होता तो मैं इस पाप से कैसे मुक्त हो सकता था ?

गाहा :-

एमाइ बहु-विगप्यं अप्पाणं निंदिऊण तो भणइ ।
भो ! भो ! भिल्ला ! सत्थे जं गहियं एत्थ तुम्हेहिं ॥५२॥
तं सव्वंपि समप्यह इमस्स धणदेव-नाम-वणियस्स ।
तेहिं तण-मज्जायं समप्यियं तस्स तं सव्वं ॥५३॥

छाया :-

एवमादि बहु-विकल्पेन आत्मानं निंदित्वा ततो भणति ।
भो ! भो ! भिल्ला ! सार्थं यद् गृहीतं अत्र युष्माभिः ॥५२॥
तद् सर्वमपि समर्पयत एतस्य धनदेव-नाम-वणिजः ।
तैः तृण-मर्यादं समर्पितं तस्मै तं सर्वम् ॥५३॥

अर्थ :- इत्यादि घणा प्रकारे आत्मानी निंदा करीने त्यारपछी पल्लिपतिए कल्लु-
'अरे भिल्लो ! तमारा वड़े अहीं सार्थमांथी जे ग्रहण करायुं होय, ते समस्त आ
धनदेव नामना वणिक्ने सौपी दो त्यारे भिल्लो वड़े तृण जेटलुं पण माल
पाछो अपायो।

हिन्दी अनुवाद :- इत्यादि बहुत प्रकार से आत्म निंदा करके फिर पल्लिपति ने कहा-'अरे
भिल्लों ! तुम्हारे द्वारा सार्थ में से जो भी वस्तुएं ली गई हों वे सब इधर धनदेव वणिक् को दे दो...
तब भिल्लों द्वारा तृण जितना भी माल वापस दिया गया।

गाहा :-

ततो स-बाल-वुड्ढे मिलिए लोगम्मि भय-विमुक्कम्मि ।
वज्जरइ सुप्पइड्ढो धणदेवं नेह-गव्वमिणं ॥५४॥

छाया :-

ततः स-बाल-वृद्धे-मिलिते लोके भय-विमुक्ते ।
कथयति सुप्तातिष्ठो धनदेवं स्नेह-गर्भमिदम् ॥५४॥

अर्थ :- त्याच पछी सार्थना लोको भयरहित थये छते मळेला बालकथी मांडी वृद्धो सहित धनदेवने सुप्रतिष्ठ पल्लिपति स्नेहयुक्त आ प्रमाणे कहे छे।
हिन्दी अनुवाद :- बाद में सार्थ से निर्भय होने पर धनदेव से सुप्रतिष्ठ पल्लिपति स्नेहयुक्त इस प्रकार कहने लगा।

गाहा :-

एत्तो गाउयमेत्ते सीहगुहा नाम अत्थि मे पल्ली ।
 तीए लहुमागच्छह अज्जं मह पाहुणा होइ ॥५५॥

छाया :-

अप्रतः गव्युतमात्रे सीहगुफा नाम्नाऽस्ति मम पल्ली ।
 तत्र शीघ्रमागच्छत अद्य मम प्राघूर्णको भव ॥५५॥

अर्थ :- अहीथी गाउमात्रमां सिंहगुफा नामनी मारी पल्ली छे. त्यां जल्दी पधारते अने आजे मारा अतिथि बनो।

हिन्दी अनुवाद :- यहाँ से गाउ मात्र ही सिंहगुफा नाम की मेरी पल्ली है वहाँ शीघ्र ही आप पधारें और आज हमारे अतिथि बनें।

गाहा :-

भणियं धणदेवेणं एवं होउत्ति ताहे सो सत्थो ।
 धणदेव-मग्ग-लग्गो सीहगुहं झत्ति संपत्तो ॥५६॥

छाया :-

भणितं धनदेवेनेवं भवत्विति ततः सः सार्थः ।
 धनदेव-मार्ग लग्नः सिंहगुफां झटिति सम्प्राप्तः ॥५६॥

अर्थ :- धनदेव वडे कहेवायु- 'भले ए प्रमाणे थाव' त्याचपछी ते सार्थ धनदेवने अनुसरतेलो सीहगुफामां जल्दी आव्यो ।

हिन्दी अनुवाद :- धनदेव द्वारा कहा गया - 'अच्छा इसी तरह हो' फिर वह सार्थ धनदेव के साथ सिंहगुफा में शीघ्र आया।

गाहा :-

आवासियस्स तत्तो वसिमासन्नम्मि सत्थ-लोयस्स ।
 पल्ली-वईणा नीओ धणदेवो नियय-गेहम्मि ॥५७॥

छाया :-

आवासितस्य तत वासस्थानसमीपे सार्थ-लोकस्य ।
 पल्ली-पतिना नीतो धणदेवो निजक-गृहे ॥५७॥

अर्थ :- पल्लीपति पल्लिनी नजीक आवासने योग्य पोताना घंटे सार्थना लोकोने तथा धनदेवने लई गयो।

हिन्दी अनुवाद :- पल्लिपति पल्ली के पास आराम के योग्य अपने घर सार्थ के लोगों के साथ धनदेव को ले गया।

गाहा :-

अब्भंगिऊण विहिणा सुगंध-तेल्लेहिं पवर-जुवईहिं ।
अद्धाण-परिस्सम नासणेण वर-वारिणा ऱ्हविओ ॥५८॥

छाया :-

अभ्यंग्य विधिना सुगंध तैलैः प्रवर-युवतिभिः ।
अध्वान-परिश्रम-नाशकेन वर-वारिणा स्नानपितः ॥५८॥

अर्थ :- श्रेष्ठ युवतिओअे सुगंधि तेलवडे विधिपूर्वक अभ्यंगन करीने (मालीसकरीने) मार्गना परिश्रमने दूर करे तेवा श्रेष्ठ पाणी वडे स्नान कराव्युं।
हिन्दी अनुवाद :- श्रेष्ठ युवतियों ने सुगंधित तेल से विधिपूर्वक अभ्यंग करके मार्ग के परिश्रम को दूर करे, ऐसे श्रेष्ठ पानी से स्नान कराया।

गाहा :-

घणसार-सार-सिरिखंड-चच्चिओ ताहे पल्लि-नाहेण ।
सहिओ पवराहारं भोत्तूण समुट्ठिओ कमसो ॥५९॥

छाया :-

घनसार-श्रीखण्ड-चर्चितस्ततः पल्लिनाथेन ।
सहितः प्रवराहारं भोत्तुं समुत्थितः क्रमशः ॥५९॥

अर्थ :- त्यारपछी पल्ली-पति वडे कपूर-चंदन वडे (विलेपन) कराव्युं पछी श्रेष्ठ भोजन जमवा माटे क्रमशः उपस्थित थया।

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् पल्लिपति द्वारा कपूर-चंदनादि द्वारा विलेपन किया गया फिर श्रेष्ठ भोजन जीमने के लिए क्रमशः उपस्थित हुआ।

गाहा :-

कप्पूर-पूर-सहिए तंबोले आयरेण से दिन्ने ।
वज्जरई धणदेवो सुहासणत्थो इमं वयणं ॥६०॥

छाया :-

कर्पूर-पूर-सहिते ताम्बूले आदरेण तस्य दत्ते ।
कथयति धनदेवः सुखासनस्थः इदं वचनम् ॥६०॥

अर्थ :- आदरपूर्वक कर्पूरादि मसालावाळुं तांबूल (पान) आपे छते सुखासन पर बेठेला धनदेवे आ प्रमाणे कह्युं।

हिन्दी अनुवाद :- अब आदरपूर्वक कर्पूरादि मिश्रित तांबूल (पान) देने पर सुखासन पर बैठे हुए धनदेव ने इस प्रकार कहा।

क्रमशः

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.



ONLY NUWUD.[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,

DESIGN FLEXIBILITY

flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arms Communications



E-46/12, Okhla Industrial Area,
Phase II, New Delhi-110 020
Phones : 632737, 633234,
6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748



*The one wood for
all your woodwork*

45-12608



MARKETING OFFICES: • AHMEDABAD: 440672, 469242 • BANGALORE: 2219219
• BHOPAL: 552760 • BOMBAY: 8734433, 4937522, 4952648 • CALCUTTA: 270549
• CHANDIGARH: 603771, 604463 • DELHI: 632737, 633234, 6827185, 6849679
• HYDERABAD: 226607 • JAIPUR: 312636 • JALANDHAR: 52610, 221087
• KATHMANDU: 225504, 224904 • MADRAS: 8257589, 8275121